लोक धर्मी नाट्य-परम्परा

★

डॉ. श्याम परमार

★

पीठिका

: १ :

भारतीय नाट्य कला के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री भरत प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' (ई० पू० तीसरी शताब्दी) में उपलब्ध है। बाद के कुछ ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं-- जैसे धनञ्जय कृत 'दशरूपक' (दसवीं शताब्दी) एवं विश्वनाथ लिखित 'साहित्य दर्पण' (पन्द्रह सौ ई० के लगभग)। वस्तुत: आधार ग्रन्थ के रूप में 'नाट्य शास्त्र' का महत्त्व सर्वोपरि है।

नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भरत-प्रणीत नाट्य-शास्त्र के कुछ अंश उल्लेख-नीय हैं जिनसे निश्चय ही यह सिद्ध होता है कि नाटक जैसा साधन सहजोद्भूत नहीं है, अपितु विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न सामाजिक चेतना का परिणाम है। नाट्य-शास्त्र में उपलब्ध नाटक की उत्पत्ति का सिद्धान्त एक कथा से जुड़ा हुआ है जो भारतीय सिद्धान्त के रूप में वर्षों से स्वीकृत होता आ रहा है। तदनुसार इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने ब्रह्मा से सब का चित्त प्रसन्न करने के लिये कोई मनोविनोद का साधन प्रादुर्भूत करने का आग्रह किया। वे ऐसा साधन चाहते थे जो श्रव्य और दृश्य दोनों हो तथा जिसमें सभी वर्ण के लोग समान रूप में भाग ले सकें।[1] चूंकि वेदों के उपयोग का अधिकार शूद्रों के लिये निषिद्ध था, अत: नवीन वेद (पंचम वेद) का सृजन अनिवार्य प्रतीत हुआ। इस प्रकार सभी वर्णों के मनोरंजनार्थ "ऋग्वेद से शब्द, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गान और अथर्ववेद से रस लेकर ललितकलात्मक नाट्यवेद की सृष्टि ब्रह्मा ने की"।[2] इससे स्पष्ट है कि नाटक की उत्पत्ति के मूल में वर्ग-स्वार्थ की भावना नहीं थी। मनोरंजन के साधनों के लिये सामूहिक प्रयत्न, बिना किसी वर्ग की उपेक्षा के, अनिवार्य प्रतीत हुए थे।

नाट्यशास्त्र के प्रथमोध्याय के श्लोकों में एक और कथा उल्लेखनीय है। जब पंचम वेद की रचना हो गई और उसका यथोचित ज्ञान प्राप्त कर भरतमुनि के शिष्यों ने देवताओं के समक्ष (विजयोत्सव पर) प्रथम बार अभिनय प्रदर्शन किया, तो उसकी कथावस्तु देवों की विजय और असुरों की पराजय से सम्बन्धित थी। अभिनय से देव-ताओं को अपने गौरव पर प्रसन्नता हुई और उन्होंने भरत मुनि के नाटकों के लिये मंच आदि की व्यवस्था कर दी। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों ही देवताओं का उसे संरक्षण प्राप्त हुआ। पर इस घटना से असुर क्रुद्ध हो गये। वे बराबर नाट्य-मण्डली के कार्यों में विघ्न उपस्थित करते रहे। इसलिये विश्वकर्मा ने नाट्यशाला बना दी। अपनी प्रतिष्ठा के लिये देवताओं को मण्डली की निरन्तर रक्षा करनी पड़ी। यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात और है। देवताओं की विजय व्यक्तिपरक न होकर सामूहिक पक्ष की द्योतक है। इसमें वीरपूजा का आरम्भ अभिनयाश्रित होकर स्पष्ट होता है। यह पूजा जितनी बाह्य थी, उतनी ही आन्तरिक। इसमें सामाजिक-उल्लास, आरम्भिक संघर्ष के पश्चात् प्रकट हुआ था।

---

१. नाट्यशास्त्र : १/११-१२ । २. नाट्यशास्त्र १/१७-१८

जिस समय 'नाट्य-शास्त्र' की रचना हुई, उस काल में कृषि-सभ्यता का विस्तार हो रहा था। ग्राम बस रहे थे, लोगों में जातीयता का उदय और ग्राम-धर्म का विकास हो रहा था। विद्वानो का मत है कि उपलब्ध 'नाट्य-शास्त्र' वस्तुत. एक व्यक्ति की रचना नहीं, पूर्ववर्ती आचार्यो के विचारों का सुसम्बद्ध सम्पादन है। अतएव नाट्यवेद की उत्पत्ति की कथा को भी 'नाट्य-शास्त्र' में पूर्ववर्ती विचारो से सम्भवतः ग्रहण किया गया हो। यह कथा ईसा की चौथी पांचवीं शताब्दी तक बराबर उद्धृत होती रही। 'नाट्य-शास्त्र' के निर्माण की आवश्यकता तत्कालीन समाज को देखते हुए जरूरी थी, और सामाजिक पुष्टि के लिये नाट्य को वेद की प्रतिष्ठा देना अपेक्षित था। उक्त कथानको से हमारे समक्ष नाटको की उत्पत्ति और विकास का रूपक-परक अर्थ स्पष्ट हो जाता है और हम इससे निष्कर्ष निकाल सकते है कि--(१) आवश्यकता ने नाटक को जन्म दिया, (२) यह आवश्यकता परिस्थिति-जन्य थी (जिसका आभास तत्कालीन समाज के व्यवस्थापको को हुआ था और उन्होंने ऐसे साधन की अपेक्षा की जिसमें सभी वर्ण के लोगों का सहयोग हो), तथा (३) देवो और असुरो का सघर्ष वस्तुत. वर्ग चेतना का द्योतक था। नाटक के विकास क्रम में सघर्ष को चित्रित करते हुए सभी के दु:ख-सुख का विश्लेषण भी नाटक जैसे प्रदर्शन में हो यह अभीष्ट प्रतीत हुआ--

योऽय स्वभावो लोकस्य, सुख-दु.ख समन्वित ।
सोऽङ्गाद्यभियोयेतो, नाट्याभित्य मिरवीयते ।।

नाटक की उत्पत्ति-सम्बन्धी अन्य मत भी इस चर्चा के सन्दर्भ में विचारणीय है। डाक्टर रिजले का मत है कि नाटक की उत्पत्ति मृतक वीरों की पूजा से हुई। मृतक वीरो की आत्मा को प्रसन्न करने के लिये उन्हीं के चरित्र का नाटकीय अभिनय श्रद्धापूर्वक आरम्भ किया गया। डाक्टर पिशेल के अनुसार कठपुतलियों से नाटक की उत्पत्ति हुई। यह मान्यता प्राचीन होकर भी विचारणीय है। राजस्थान, मारवाड, मालवा, दक्षिण भारत आदि प्रान्तो में कठपुतलियो के खेल और फिर पुतलियो की सर्वदेशीय परम्परा का उपलब्ध स्वरूप उल्लेखनीय है। कतिपय भारतीय ग्रन्थो में कठपुतलियो के नृत्योल्लेख भी इस बात को पुष्ट करते है। छाया नाटको से भी सबध जोडने का प्रयत्न किया गया। परिशिष्ट में इस विषय पर अलग से विचार किया गया है। वेदों में सवादात्मक ऋचाओं से नाटक की उत्पत्ति का सम्बन्ध जोडने पर भारतीय मत नाट्य-शास्त्र के और भी पीछे चला जाता है। ऋग्वेद में लगभग ऐसे प्रसग है जिन्हें नाटकीय सवाद के रूप में निश्चय ही स्वीकार किया जा सकता है। वेद पाठ की अपनी विशेष शैली में इन्हीं सवादों का गान होता रहा है। मैक्समूलर का अनुमान है कि सभवत' ऐसे सवाद दो भिन्न दलो द्वारा सामूहिक रूप से गाये जाते होगे। प्रो० लेवी ने भी यही मत बाद में स्वीकार किया है। इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि सामवेद और अथर्ववेद की ऋचायें तथा ऋग्वेद के सवाद नृत्य, नाट्य और सगीत की त्रिधाभिव्यक्ति है। वेदकालीन जन समुदाय इस त्रिवेणी से परिचित था। ऋचाओं के अध्ययन से कहीं-कहीं स्वगत भाषण की रूपरेखा भी उपलब्ध होती है। ऋतु-उत्सवो में नृत्य-नाट्य के प्रमाण खोजने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक युग में यह परम्परा स्वाभाविक रूप से रही है। देवताओं को प्रसन्न करने अथवा तान्त्रिक परम्पराओं की साधना के हेतु नृत्य समाज का अनुष्ठानिक अग रहा है। नाटक का मूल स्रोत वस्तुत ऐसे नृत्यो के हाव-भाव में वर्णित

वस्तु-तथ्य के भीतर लक्षित होता है।[1] नाटक का इस प्रकार नृत्य से सम्बन्ध लोक-धर्मी नाट्य परम्परा का द्योतक है। बंगाल की यात्राएँ इस परम्परा की अभी भी रक्षा कर रही हैं। कीथ के अनुसार वैदिक ऋचाएँ नाट्य-कला के प्रारम्भिक सूत्रों का प्रतिनिधित्व करती हैं। आदिवासियों में प्रायः मद अथवा शराब पीने का आयोजन फसल पकने के पश्चात् किया जाता है। यह उत्सव का रूप धारण कर लेता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ जिसमें नाटक के संवादों का क्रम निहित है, सम्भवतः फसल पकने के हेतु किये जाने वाले अनुष्ठानों के गीत बन गयी होंगी। कीथ ने 'कोरा' जाति के मदोत्सव पर उल्लेख करते हुए इस सन्दर्भ में सोमपान[2] के समय इन्द्र के मुख से कहे जानेवाले मन्त्र को स्वगत कथन का स्वरूप बताया है। पुरोहित जिसमें इन्द्र का रूप धारण कर सोम की शक्ति का बखान करता है। कोराओं में एक व्यक्ति मदोन्मत्त देवता का अभिनय करता है और दूसरा गीत गाता है। नाटक का यह आदिम रूप आज भी कतिपय वनवासियों का मदोत्सव अथवा अनुष्ठानिक आचारों में दृष्टिगोचर होता है। वर्षा के लिये किये जाने-वाले टोटकों को अथवा विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर अनेक जातियों में प्रचलित कुछ ऐसे आचार सरलतापूर्वक अभिनय की कोटि में स्थान पा सकते हैं। उनमें भी गीतों को पृष्ठ में गाते रहने का प्रघात उपलब्ध है।

प्रो० विन्डिश, ओल्डनबर्ग तथा पिशेल तीनों के मत से वैदिक ऋचाएँ नाटक के पद्यात्मक अंश हैं जिन्हें सुरक्षित रखा जा सका। इनके मध्य में सम्भवतः गद्यात्मक अंश रहे होंगे, जिन्हें सम्हाले रखना कदाचित् उपयुक्त नहीं समझा गया हो। इसी मत को पुष्ट करने के लिये कुछ विद्वानों ने वैदिक ऋचाओं को वीरगीत अथवा कीर्तिगीत बताने का प्रयत्न भी किया, किन्तु ऐसी सभी बातें आलोचना का विषय बनी हैं।

सामवेद के गीतों को भी नाटक से सम्बन्धित स्वीकार किया जा सकता है। अनुष्ठानिक नृत्यों की परम्परा के प्रमाणों का अभाव नहीं है। ऐसे नृत्यों में सांकेतिक मुद्राओं का प्रचलन बना रहा है। नाटक की उत्पत्ति का बहुत कुछ आधार यही सामग्री है। भारतीय नाटकों की परम्परा में नृत्य का सम्बन्ध दृष्टव्य है। आगे चल कर इन्हीं नृत्य-गीतों में संवादों का प्रवेश नृत्य-नाटकों की उत्पत्ति का कारण हुआ। यों तो नाटकों की प्राचीनता में सन्देह नहीं। ईसा की तीन शताब्दी पूर्व रामगढ़ (सरगुजा) की पहाड़ी में अवस्थित 'सीताबेंगा' और 'जोगीमारा' की गुफाओं में नाटक का पुराना प्रेक्षागृह बना हुआ है। सीताबेंगा में पाये गये एक शिलालेख में उस समय के मनोरंजन का मामूली-सा चित्र मिलता है. "दुले वसंतिया। हासावानु भूते। कुदस्पीत एवं अलंग (त)" पंक्ति का अर्थ सम्भवतः इस प्रकार है कि "वसन्त पूर्णिमा की दोल यात्रा उत्सव सम्बन्धी गीत गाये जाते हैं और हँसी के फौवारे छूटते हैं। गले में चमेली की माला डाले लोग आनन्द से फूले नहीं समाते।" वस्तुतः मनोरंजन की दृष्टि से नाटक का प्रचार सदैव बना रहा है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' की गठन और विभिन्न विधियों की सुविस्तृत योजना यह बताती है कि भरत के पूर्व भारत में नाटकों की परम्परा सभी वर्गों में काफी बढ़े ढंग से प्रचलित रही होगी। भरत ने उनका अध्ययन कर सुव्यवस्थित शास्त्र का निर्माण किया, जिससे कि लोक-प्रचलित मनोरंजन की स्वच्छन्दता और बिखरी हुई पद्धतियों में सुधार होकर एक सूत्र-बद्धता आ सके। उक्त मतों पर विस्तार से चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं, किन्तु संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सभी परम्परा का

---

1. कीथ, दी संस्कृत ड्रामा, पृ० १७/१९२४। 2. वही, पृ० १८।

अपरोक्ष रूप से नाटक की उत्पत्ति के सूत्रों से कहीं अधिक और कहीं कम मात्रा में जुड़े हुए हैं। यही ध्यान देने की बात है कि कृषि-जीवन के आरम्भ होते ही अवकाश के क्षणों में मानव ने अपने मनोरंजन के लिये अनेक साधनों का आविष्कार किया। कुछ साधन समाज के प्रिय विषय बन कर परम्परा के रूप में प्रचलित हो गये। आज भी यही परम्पराएँ हमें नाटक की उत्पत्ति के किसी निश्चिय की ओर ले जाने के लिये बाध्य करती हैं। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि लौकिक कार्यों में नाटक की अभिनय सामग्री (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्) और धार्मिक कार्यों में पूर्व पुरुषों की कथाएँ मिलती हैं। नाटक की उत्पत्ति में यह वस्तुएँ आगे-पीछे होकर योग प्रदान करती हैं। जिज्ञासा-जन्य प्रयोग और सत्प्रयत्नों ने नाटक में प्राण प्रतिष्ठा की। भरत के पूर्व नाटक का लोकधर्मी रूप न रहा हो, यह असम्भव है। यद्यपि यह 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्ट परिलक्षित नहीं हुआ, किन्तु उत्पत्ति सम्बन्धी जो रूपक कथाएँ आरम्भ में दी गई हैं, वे मानव के कृषि-युग की सूचक हैं। जब कि नाटक और निकटवर्ती देशों में अनेक घुमन्तू जातियाँ बस चुकी थीं और जहाँ एक बार बसावट हो जाती है, वहाँ मनोरंजन के साधन अपने आप उत्पन्न होते हैं। नाटक इसी तरह सहज उत्पन्न श्रव्य एवं दृश्य योजना है जो बाद में क्रमशः नियमबद्ध होती गई। इस क्रम में लोकधर्मी और साहित्यिक ये दोनों भिन्न नाट्य परम्पराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित हुईं। प्रारम्भ में यह भेद न था, बल्कि उसे पूर्ण लोकोन्मुखी बनाने के लिये सभी वर्गों का सहयोग अपेक्षित हुआ था। इसीलिये पंचमवेद का रूपक सम्भवतः एक सुसंयत 'अप्रोच' है, यह कहना अनुचित न होगा।

: २ :

हर्ष के पश्चात् (७ वीं शताब्दी) कुछ शताब्दियाँ ऐसी बीतीं कि प्रत्येक प्रान्त एक-दूसरे के संपर्क से वंचित हो गये। फलस्वरूप मनोरंजन के साधनों का सर्व-सामान्य रूप विच्छृंखलित हो गया और लौकिक साधन अपने-अपने ढंग से नाना स्थानों में पनपने लगे। तात्विक दृष्टि से लौकिक भावनाओं में समानता होते हुए भी उन साधनों में रूप-भिन्नता उत्पन्न हुई। कालान्तर में ये ही साधन रूढ़ हो कर परम्परा की थाती बन गये।

मध्ययुग की परिस्थितियों का अध्ययन करने से यह विदित होगा कि भक्तिपरक आन्दोलनों ने नाटक की उस परम्परा को जो राजाश्रय के अभाव में मुरझा गई थी और वह परम्परा जो साधारण जन में उद्देश्यविहीन होकर नष्ट हो रही थी, एक साथ जीवित कर दिया। कृष्ण-लीला की भावोन्मेषकारिणी विविधता राज-दरबारों और जन-साधारण के मंचों पर एक साथ प्रतिफलित हुई। भागवत के दशम् स्कन्ध की कथाएँ अभिनय का सहारा पाकर लोक-जीवन की अभिव्यक्ति के स्पर्श से परम्परात्मक नाट्य-शैली के सूत्रपात की अधिकारिणी हुई। उधर राम के जीवन का अभिनय रामभक्ति धारा की प्रेरणा से प्रस्फुटित हुआ। इस प्रकार कालावधि में 'रासलीला' और 'रामलीला' दो लोकधर्मी नाट्य-परम्पराएँ विकसित हुईं। हिन्दी नाटकों के विकास की पृष्ठभूमि में मध्यकाल की इस श्रीवृद्धि का महत्त्वपूर्ण योग है।

संदेह नहीं, मुसलमानों ने भारतीय संस्कृति को काफी नुकसान पहुँचाया और उन्होंने नाटक के विकास में बाधाएँ उपस्थित कीं। ठीक इसी समय सुदूर नेपाल, आसाम,

बंगाल और बिहार तथा निकटवर्ती मिथिला में बंगवों के रंगमंच पर अनेक नाटक खेले गये, जो आज भी उपलब्ध हैं। इतिहास लेखकों का मत है कि "उस समय भी (मध्यकाल) मुसलमानी प्रभाव से दूर दक्षिण में संस्कृत नाटकों की रचना और अभिनय कला का प्रचार बराबर बना रहा। ऐसे स्थानों में जहाँ मुसलमानी प्रभाव विशेष था, उच्च श्रेणी के नाट्य-साहित्य और अभिनय-कला का पतन हो गया। केवल गाँवों में रूपक के कुछ हीन भेदों का प्रचार बना रहा।"[1]

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या संस्कृत के या उच्चश्रेणी के नाटकों का विकारी रूप लोकधर्मी नाटकों में निहित हुआ या लोक-नाटकों की अपनी स्वतंत्र परम्परा ही थी। भाषा की दृष्टि से जो भेद संस्कृत या उच्चवर्ग की भाषा और लोक प्रचलित बोलियों में रहा है, वही भेद हमें संस्कृत नाटकों अथवा उच्च कोटि के नाटकों एवं लोकनाट्यों में स्वीकार करना चाहिये। जहाँ लोकनाट्य संस्कृत नाटकों के निकट आये हैं वहाँ वे अवश्य ही नागरिकता से प्रभावित हुए हैं। चूँकि लोकनाट्य लोकधर्मी रहे हैं, अत. राजदरबारों का आश्रय उनके लिये संस्कृत नाटकों की तरह अपेक्षित नहीं था। इसलिये आश्रय के अभाव में उच्चकोटि की नाट्य-कला का ह्रास हो गया और लोक-नाट्य कितने ही उत्थान और पतन के बाद भी गाँवों में आज भी बने हुए हैं। हेमेन्द्रनाथदास के अनुसार संस्कृत नाटकों की परम्परा का अन्तिम नाटक रामानन्द राय (जगन्नाथ वल्लभ) का था, जो जगन्नाथपुरी के मन्दिर में श्री प्रतापरुद्र की आज्ञा से खेला गया था। यह सम्भव है कि यही अन्तिम नाटक न होगा। अन्य प्रान्तों में इस प्रकार की नागर-परम्परा से संबंधित नाटक तब तक अवश्य ही जीवित रहे होंगे जब तक कि राजाओं का वरदहस्त उन पर रहा। इस परम्परा के ठीक विपरीत लौकिक नाटक (लोकधर्मी) हैं, जहाँ आडम्बरों का अभाव और सीमित साधनों में उन्मुक्त अभिव्यक्ति का कौशल विद्यमान है। यही कारण है कि सन्तों ने अपने प्रचार के साधनों में एक साधन नाटक भी माना है। आचार्यों ने लौकिक परम्परा के विरुद्ध जहाँ-तहाँ अपने मत दिये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि लोगों की रुचि लोक-नाटकों की ओर क्रमशः बढ़ रही थी। मध्यकालीन नाटकों में ऐसे अनेक नाटकों का पता लगा है जो भरत की नाट्य रीतियों पर खरे नहीं उतरते। उनमें पद्यात्मक संवादों का आधिक्य और रामायण तथा महाभारत की कथाओं का ग्रामीण पद्धति से विस्तार पाया जाता है। न उनमें पात्र-प्रवेश के संकेत हैं, न चरित्र-चित्रण की उठान। गति और अभिनय का कौशल भी नदारद। जिसे उत्कृष्ट नाट्य कला कहा जाता है उसका कोई रूप उसमें नहीं है। 'रुक्मिणी हरण' (विद्यापति), 'हनुमन् नाटक' (हृदयराम पंजाबी), 'प्रबोध चन्द्रोदय' (यशवन्तसिंह), 'शकुन्तला' (निवाज कवि), 'देवमाया प्रपंच' (देव), 'माधवानल काम-कन्दला' (आलम) आदि ऐसे ही कुछ नाटक हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में लोक-नाट्यों का प्रभाव पाया जाता है। 'चन्द्रावली' में 'रास' का और 'नीलदेवी' में 'स्वांग' का प्रभाव है (आ० हि० सा० २३२), यद्यपि यह प्रभाव भद्दे-पन से भरा हुआ नहीं है। स्वांगों का तो लोगों पर अवश्य असर होता था। डा० सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' में मौलाना गनीमत की एक मसनवी (१८८४) का आशय उद्धृत किया है, जो इस तरह है —

---

१ डॉ० वार्ष्णेय आधुनिक हिन्दी साहित्य पृष्ठ २२८।

अपरोक्ष रूप से नाटक की उत्पत्ति के सूत्रों से कहीं अधिक और कहीं कम मात्रा में जुड़े हुए हैं। यही ध्यान देने की बात है कि कृषि-जीवन के आरम्भ होते ही अवकाश के क्षणो में मानव ने अपने मनोरंजन के लिये अनेक साधनों का आविष्कार किया। कुछ साधन समाज के प्रिय विषय बन कर परम्परा के रूप में प्रचलित हो गये। आज भी यही परम्पराएँ हमें नाटक की उत्पत्ति के किसी निश्चिय की ओर ले जाने के लिये बाध्य करती हैं। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि लौकिक कार्यों में नाटक की अभिनय सामग्री (अवस्यानुकृतिर्नाट्यम्) और धार्मिक कार्यों में पूर्व पुरुषो की कथाएँ मिलती हैं। नाटक की उत्पत्ति में यह वस्तुएँ आगे-पीछे होकर योग प्रदान करती हैं। जिज्ञासा-जन्य प्रयोग और सत्प्रयत्नो ने नाटक में प्राण प्रतिष्ठा की। भरत के पूर्व नाटक का लोकधर्मी रूप न रहा हो, यह असम्भव है। यद्यपि यह 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्ट परिलक्षित नहीं हुआ, किन्तु उत्पत्ति सम्बन्धी जो रूपक कथाएँ आरम्भ में दी गई हैं, वे मानव के कृषि-युग की सूचक हैं। जब कि नाटक और निकटवर्ती देशो में अनेक घुमन्तू जातियाँ बस चुकी थीं और जहाँ एक बार बसावट हो जाती है, वहाँ मनोरजन के साधन अपने आप उत्पन्न होते हैं। नाटक इसी तरह सहज उत्पन्न श्रव्य एवं दृश्य योजना है जो बाद में क्रमश नियमबद्ध होती गई। इस क्रम में लोकधर्मी और साहित्यिक ये दोनो भिन्न नाट्य परम्पराएँ स्वतत्र रूप से विकसित हुईं। प्रारम्भ में यह भेद न था, बल्कि उसे पूर्ण लोकोन्मुखी बनाने के लिये सभी वर्गों का सहयोग अपेक्षित हुआ था। इसीलिये पचमवेद का रूपक सम्भवत एक सुसयत 'अप्रोच' है, यह कहना अनुचित न होगा।

: २ :

हर्ष के पश्चात् (७ वीं शताब्दी) कुछ शताब्दियाँ ऐसी बीतीं कि प्रत्येक प्रान्त एक-दूसरे के सपर्क से वचित हो गये। फलस्वरूप मनोरजन के साधनो का सर्व-सामान्य रूप विच्छृखलित हो गया और लौकिक साधन अपने-अपने ढग से नाना स्थानो में पनपने लगे। तात्विक दृष्टि से लौकिक भावनाओ में समानता होते हुए भी उन साधनो में रूप-भिन्नता उत्पन्न हुई। कालान्तर में ये ही साधन रूढ़ हो कर परम्परा की थाती बन गये।

मध्ययुग की परिस्थितियो का अध्ययन करने से यह विदित होगा कि भक्तिपरक आन्दोलनो ने नाटक की उस परम्परा को जो राजाश्रय के अभाव में मुरझा गई थी और वह परम्परा जो साधारण जन में उद्देश्यविहीन होकर नष्ट हो रही थी, एक साथ जीवित कर दिया। कृष्ण-लीला की भावोन्मेषकारिणी विविधता राज-दरबारों और जन-साधारण के मचो पर एक साथ प्रतिफलित हुई। भागवत के दशम् स्कन्ध की कथाएँ अभिनय का सहारा पाकर लोक-जीवन की अभिव्यक्ति के स्पर्श से परम्परात्मक नाट्य-शैली के सूत्रपात की अधिकारिणी हुई। उधर राम के जीवन का अभिनय रामभक्ति शाखा की प्रेरणा से प्रस्फुटित हुआ। इस प्रकार कालावधि में 'रासलीला' और 'रामलीला' दो लोकधर्मी नाट्य-परम्पराएँ विकसित हुईं। हिन्दी नाटको के विकास की पृष्ठभूमि में मध्यकाल की इस श्रीवृद्धि का महत्त्वपूर्ण योग है।

सदेह नहीं, मुसलमानो ने भारतीय सस्कृति को काफी नुकसान पहुँचाया और उन्होंने नाटक के विकास में बाधाएँ उपस्थित कीं। ठीक इसी समय सुदूर नेपाल, आसाम,

बंगाल और बिहार तथा निकटवर्ती मिथिला में वैष्णवों के रंगमंच पर अनेक नाटक खेले गये, जो आज भी उपलब्ध हैं। इतिहास लेखकों का मत है कि "उस समय भी (मध्यकाल) मुसलमानी प्रभाव से दूर दक्षिण में संस्कृत नाटकों की रचना और अभिनय कला का प्रचार बराबर बना रहा। ऐसे स्थानों में जहाँ मुसलमानी प्रभाव विशेष था, उच्च श्रेणी के नाट्य-साहित्य और अभिनय-कला का पतन हो गया। केवल गांवों में रूपक के कुछ हीन भेदों का प्रचार बना रहा।"[1]

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या संस्कृत के या उच्चश्रेणी के नाटकों का विकारी रूप लोकधर्मी नाटकों में निहित हुआ या लोक-नाटकों की अपनी स्वतंत्र परम्परा ही थी। भाषा की दृष्टि से जो भेद संस्कृत या उच्चवर्ग की भाषा और लोक प्रचलित बोलियों में रहा है, वही भेद हमें संस्कृत नाटकों अथवा उच्च कोटि के नाटकों एवं लोकनाट्यों में स्वीकार करना चाहिये। जहाँ लोकनाट्य संस्कृत नाटकों के निकट आये हैं वहाँ वे अवश्य ही नागरिकता से प्रभावित हुए हैं। चूँकि लोकनाट्य लोकधर्मी रहे हैं, अतः राजदरबारों का आश्रय उनके लिये संस्कृत नाटकों की तरह अपेक्षित नहीं था। इसलिये आश्रय के अभाव में उच्चकोटि की नाट्य-कला का ह्रास हो गया और लोक-नाट्य कितने ही उत्थान और पतन के बाद भी गांवों में आज भी बने हुए हैं। हेमेन्द्रनाथदास के अनुसार संस्कृत नाटकों की परम्परा का अन्तिम नाटक रामानन्द राय (जगन्नाथ वल्लभ) का था, जो जगन्नाथपुरी के मन्दिर में श्री प्रतापरुद्र की आज्ञा से खेला गया था। यह सम्भव है कि यही अन्तिम नाटक न होगा। अन्य प्रान्तों में इस प्रकार की नागर-परम्परा से सबंधित नाटक तब तक अवश्य ही जीवित रहे होंगे जब तक कि राजाओं का वरदहस्त उन पर रहा। इस परम्परा के ठीक विपरीत लौकिक नाटक (लोकधर्मी) हैं, जहाँ आडम्बरों का अभाव और सीमित साधनों में उन्मुक्त अभिव्यक्ति का कौशल विद्यमान है। यही कारण है कि सन्तों ने अपने प्रचार के साधनों में एक साधन नाटक भी माना है। आचार्यों ने लौकिक परम्परा के विरुद्ध जहाँ-तहाँ अपने मत दिये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि लोगों की रुचि लोक-नाटकों की ओर क्रमशः बढ़ रही थी। मध्यकालीन नाटकों में ऐसे अनेक नाटकों का पता लगा है जो भरत की नाट्य रीतियों पर खरे नहीं उतरते। उनमें पद्यात्मक संवादों का आधिक्य और रामायण तथा महाभारत की कथाओं का ग्रामीण पद्धति से विस्तार पाया जाता है। न उनमें पात्र-प्रवेश के संकेत हैं, न चरित्र-चित्रण की उठान। गति और अभिनय का कौशल भी नदारद। जिसे उत्कृष्ट नाट्य कला कहा जाता है उसका कोई रूप उसमें नहीं है। 'रुक्मिणी हरण' (विद्यापति), 'हनुमन् नाटक' (हृदयराम पंजाबी), 'प्रबोध चन्द्रोदय' (यशवन्तसिंह), 'शकुन्तला' (निवाज कवि), 'देवमाया प्रपंच' (देव), 'माधवानल काल-कन्दला' (आलम) आदि ऐसे ही कुछ नाटक हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में लोक-नाट्यों का प्रभाव पाया जाता है। 'चन्द्रावली' में 'रास' का और 'नीलदेवी' में 'स्वांग' का प्रभाव है (आ० हि० सा० ७३२); यद्यपि यह प्रभाव भद्दे-पन से भरा हुआ नहीं है। स्वांगों का तो लोगों पर अवश्य असर होता था। डा० सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' में मौलाना गनीमत की एक मसनवी (१८८५) का आशय उद्धृत किया है, जो इस तरह है —

---

१ डॉ० वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ७७४।

"आज शहर में अजब किस्म के लोग आये हैं, जो एक तर्जो अन्दाज के साथ नकलें करते हैं, और नगमो-साज के साथ शोवदे दिखाते हैं। नाच और नकल में वे उस्ताद हैं, खुशआवाज हैं। हमारे इस्तलाह में इनको भगतबाज कहते हैं। कभी मर्द, कभी औरत और कभी बच्चे की नकल करते हैं, कभी परेशान बाल-सन्यासी बन जाते हैं, कभी मुसलमान, कभी काश्मीर का भेस बनाते हैं, और कभी फिरंगी बन जाते हैं। कभी दहकानी औरत और कभी मर्द की नकल करते हैं, कभी दाढ़ी मुंडा कर शिव की सूरत में नजर आते हैं। कभी मुगलों की शक्ल बना लेते हैं, कभी गुलाम बन जाते हैं, कभी जच्चा की हुलिया बना लेते हैं, जिसका बच्चा दाया की गोद में रोता है। कभी देव बन जाते हैं, कभी परी। गरज हर कौम का जलवा दिखाते हैं, और हर तरह के इश्वा जमाने से काम लेते हैं।"

रिजले ने जो कुछ देखा वह इसी प्रकार का था। ऐसे अभिनयो से प्रभावित होकर यदि मनमौजी लेखकों ने साधारण कोटि के नाटक लिखे हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। सही माने में उन्होने जन-रुचि को समझ कर जनवादी अभिव्यक्ति के प्रयोग किये थे और उनके वे प्रयोग उस समय सफल हुए।

भारतेन्दु जी ने नाटक के उत्थान के लिये पर्याप्त प्रयत्न किये और यहाँ तक कि उनके प्रयत्न और प्रयोग कुछ अंशो में इसी प्रकार के थे। उनके समय में उत्तर भारत के रास और रामलीला के मंच रूढिवादी हो गये थे। उधर बंगाल की 'जात्रा' और मिथिला के 'कीर्तनिया' ने उन्हें प्रेरणा दी। लोक-नाट्यो में कला का जो अभाव उन्हें खटका वह तो एक ओर रहा, पर उन्हें देखते हुए एक राष्ट्रीय मंच की आवश्यकता का उन्होंने तीव्रतम अनुभव किया। इसलिये लोकनाट्यों की पद्यात्मक संवाद शैली एवं अन्य नाट्य पद्धतियो के समन्वय को लोकरुचि के अनुसार प्रदर्शन का विषय बनाते हुए उन्होंने मंच की स्थापना की। इस काम में उन्होने अपने मित्रो, परिजनो, शिष्यों सब को समेटा और अपने समय में अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटको की रचना कर उनका अभिनय कराया, किन्तु उनके प्रयत्न आगे चलकर असफल हुए। पारसी थिएट्रिकल कंपनी के मुकाबले में वे एक सशक्त हिन्दी मंच की स्थापना नहीं कर सके। उनके समय जो लोकनाट्य प्रचलित थे, वे तो चलते ही रहे, पर जिस खाई को वे अपने समन्वयवादी प्रयोगो से भरना चाहते थे उसमें सफल न हो सके। उनके पश्चात् हिन्दी नाटको की धारा अंग्रेजी के प्रभाववश लोकधर्मी नाट्यो के संपर्क से एकदम हट गई। अब नाटको में पद्य का प्रयोग यथार्थवादी कसौटी पर कसा जाने लगा। संक्षेप में, लोक-नाटको की तात्विकता हिन्दी को छू भर सकी और परे हो गई। कृत्रिम उपायो से मंच की सज्जा और नाटको के अभिनय में जटिलता का विकास हुआ। रूपसज्जा और वाह्याडम्बरो का प्रभाव बढा। इस तरह सभी वर्ग के मनोरंजन का साधन नाटक वर्ग विशेष की वस्तु बन गया और नाटक की वे दो धाराएँ लोक-परक और उच्च वर्ग परक, उसी तरह अलग-अलग चलती गईं। इसमें लोकधर्मी परम्परा का ह्रास नहीं हुआ। आज भी गांवो में मंच अपने ढंग से सजीव हैं। उन पर समय-समय पर अनेक प्रकार के मनोरंजन होते हैं। उनमें शैथिल्य नहीं आया। पुस्तक के आगामी पृष्ठों में इस प्रकार के लोकनाट्यो का विस्तार से परिचय दिया गया है। यहाँ संक्षेप में लोक को प्रभावित करने की क्षमता रखनेवाले इन नाटको के विषय में कुछ स्थूल बातें जानना आवश्यक प्रतीत होता है।

: ३ :

लोक-नाट्य की विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोक-जीवन से उसका अग-अंगी का नाता है। वाह्याडम्वरो और नागरिक सुसंस्कृत चेष्टाओ के विना, लोक के मनोभावो और प्रतिक्रियाओ का स्वतन्त्र विकास केवल लोकधर्मी नाट्यशैली में ही सम्भव है। लोकवार्ता का एक स्वतत्र अग होने के कारण लोक-जीवन में इन नाटको का अपना अनोखा आकर्षण है। शास्त्रीय नाट्य पद्धति की अनभिज्ञता, मच निर्माण की विधिवत् प्रणाली का अज्ञान एव कथागत कुशलताओ के अभाव में भी नाट्य की इस शैली को अपना अस्तित्व वनाये रखने का पूरा अवसर समाज में मिला। ऋतु-उत्सवो, फसल कट जाने के वाद आनन्द के क्षणो एव विविध अवसरो पर प्रत्येक प्रान्त में इन नाटकों के प्रदर्शन ग्रामीण क्षेत्रो में देखे जाते हैं। भरत ने सम्भवत इन्हीं प्रदर्शनों को देख कर नाट्य-शास्त्र के चौदहवें अध्याय में लोकधर्मी नाट्य प्रवृत्तियो की ओर सकेत किया है। यद्यपि सस्कृत में लोकपरक नाट्यो के उदाहरण नहीं मिलते है, तथापि समवकार, व्यायोग, प्रहसन, भाण,[1] सट्टक आदि प्रकारो को लोक शैली के नाट्य रूपक कहा जा सकता है। 'दशरूपक' में इन पर सक्षेप में चर्चा की गई है। अपरोक्ष रूप से लोकपरक नाट्य शैली ने सस्कृत के नाटको को भी प्रभावित किया है, जिसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

समाज की विकास परम्परा में ऐसे नाट्य-रूपों का उदय मनोरजन के लिये हुआ, जिसमें सभी वर्ग के लोगो ने हाथ वँटाया। नगरो के उत्थान और राजकीय दरवारो के आकर्षण ने उच्च वर्ग के लिये एक सुसस्कृत नाट्य परम्परा को मार्ग दिया, जिसने प्ररणा तो इन्हीं लोक-नाट्यो से ग्रहण की, पर वेष और आत्मा को भूमि की उपा से ऊपर उठा लिया। मध्यकाल में जव नागरिको के मच का ह्रास हुआ और नाटक समाज के सीमित क्षेत्र के मनोविनोद और विलास का साधन वन गया, तव यही लोक-नाट्य परम्परा गाँवों के जीवन में रस सृष्टि का माध्यम वनी रही। वंगाल, विहार, उडीसा, कुरु, मालवा, राजस्थान, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, आन्ध्र और सुदूर दक्षिणवर्ती प्रान्तो में अपनी-अपनी विशेषताओ से विभूषित लोक-नाट्यो का निरन्तर जयघोष होता रहा है। ये नाटक लोक मानस की अनुकरण-मूलक प्रवृत्तियो, कल्पनाओ और क्रियात्मक अभि-व्यक्तियो के सहज प्रतिरूप हैं। अभिनय के अनगढ़ स्वरूप और वाणी के स्वाभाविक प्रवाह में परम्परा से पोषित आस्था के दर्शन होते हैं। लोकवार्तागत विश्वास, अनुष्ठानिक एव लौकिक पूजा-अर्चना, समाज की वर्गगत भावनाओ की रूढ़ व्यजना, प्रचलित आख्यानो, कथानकों और सामूहिक नृत्य-गीतो में उपलब्ध उत्साह और उमग तथा वँधी-वँधायी वाक्शैली में लोकपरक यह नाट्यशैली विकसित हुई। भांड, भडैत, नट और नक्काली ने लोक शैली के छोटे-छोटे प्रहसनो को जीवित रखा। विवाह उत्सवों के अवसर पर अनेक जातियो में स्त्रियाँ वारात विदा होने पर स्वाग वनाती हैं। चांदनी रात में वालक-वालिकाएँ परम्परागत अभिनय प्रस्तुत करते हैं। मनोरजन का ज्यो ही अवसर मिला नहीं कि लोकवुद्धि अनुकरणात्मक प्रवृत्तियो के मनोनुकूल साधन ढूँढ लेती है।

---

१ कीथ, दी सस्कृत ड्रामा, पृ० ३४८, १९५४।

गांवों के किशोर और युवको में कभी-कभी मौलिक घटनाओ के आधार पर प्रहसन उतारने की होड-सी लग जाती है। प्राचीनकाल से यही प्रवृत्ति चली आ रही है। मध्यकाल में शान्ति के क्षणो में यह अधिक पनपी और गांवों में रूढ़ हो गई। लोक-कथाओं, अवदानो और गीतो की तरह अनेक छोटे-छोटे प्रहसन न मालूम कब से चले आ रहे हैं। राजा-महाराजाओ के दरबार और शौर्य के प्रसग वीर-पूजा की भावना के साथ परम्परा की थाती बनकर उपलब्ध हैं। नवीन उद्भावनाएँ भी इनकी पकड़ से परे नहीं रहीं। 'गार्सां द तासी' नामक फ्रासीसी इतिहासकार ने ऐसे तमाशों का उल्लेख किया है। उसने 'एशियाटिक जर्नल' की जिल्द बाइस (नई सीरिज) से एक ऐसा ही प्रहसन अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया।[1] जिसे जानकारी के लिये यहां प्रस्तुत करना उप-युक्त होगा।

"..दृश्य में कचहरी दिखाई गई है जिसमें यूरोपियन मैजिस्ट्रेट बैठे हुए हैं। अभिनेताओ में से एक, गोल टोपी सहित अग्रेजी वेश-भूषा में सीटी बजाते और अपने बूटो में चाबुक मारते हुए सामने आता है। तब किसी अपराध का दोषी कैदी लाया जाता है। किन्तु जज, क्योंकि वह एक नवयुवती भारतीय महिला, जो गवाह प्रतीत होती है, के साथ व्यस्त रहता है, ध्यान नहीं देता। जबकि गवाहियां सुनी जा रही हैं, वह कनखियो से देखे बिना, बिना किसी अन्य बात की ओर ध्यान दिये हुए नहीं रहता और परिणाम के प्रति उदासीन रहता है। अंत में जज का खिदमतगार आता है जो अपने मौलिक के पास जा कर और हाथ जोड कर, आदरपूर्वक और विनम्रता के साथ, धीमे स्वर में उससे कहता है, 'साहिब टिफिन तैयार है'। तुरन्त जज जाने के लिये उठ खडा होता है। अदालत के कर्मचारी उससे पूछते हैं कि कैदी का क्या होगा? नवयुवक सिविलियन, कमरे के बाहर जाते समय, एडी के बल घूमते हुए चिल्ला कर कहता है, 'गो डैम, फांसी'।"

तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया ऐसे छोटे लोक परक प्रहसनों में खूब झलकी है। दोषो की खुलकर खिल्लियां उडाई जाती हैं। हर बात हास्य, व्यग, धर्म और राजनीति में उलझती-सुलझती अन्त में सुखान्त स्थिति तक पहुँचती है। स्थूलत लोकधर्मी नाट्य परम्परा के दो रूप हैं--(१) सामयिक लघु प्रहसन तथा (२) मध्यरात्रि में आरम्भ होकर प्रातःकाल तक अभिनेय गीति-नाट्य।

दूसरी श्रेणी के नाट्यो की कथावस्तु धार्मिक, ऐतिहासिक और लौकिक है। राम-चरित मानस, श्रीमद्‌भागवत और महाभारत की कथाओं ने धार्मिक नाट्यो का ताना-बाना बुना है। ऐतिहासिक कथाएँ प्राय मध्यकाल की हैं और लौकिक कथाएँ पूर्णतः लोक प्रचलित परम्परागत कथानको पर आधारित हैं। अनेक लोक-नाट्य ऐसे हैं जिनका कथागत सामग्री से प्राय सभी भिज्ञ होते हैं। इतना होते हुए भी उनके प्रति लोकरुचि तनिक भी शिथिल नहीं होती। वर्षो से लोग उनका अभिनय देखते आ रहे हैं। यही बात ऐतिहासिक और लौकिक कथानकों पर आधारित लोक-नाट्यों पर आरोपित की जा सकती है। लोकधर्मी नाट्य परम्परा के अन्तर्गत आने वाले नाट्य प्रकारो का विभा-जन निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है --

---

१ हिन्दुई साहित्य का इतिहास, गार्सां द तासी (अनु० डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) पृ० ३६-३७।
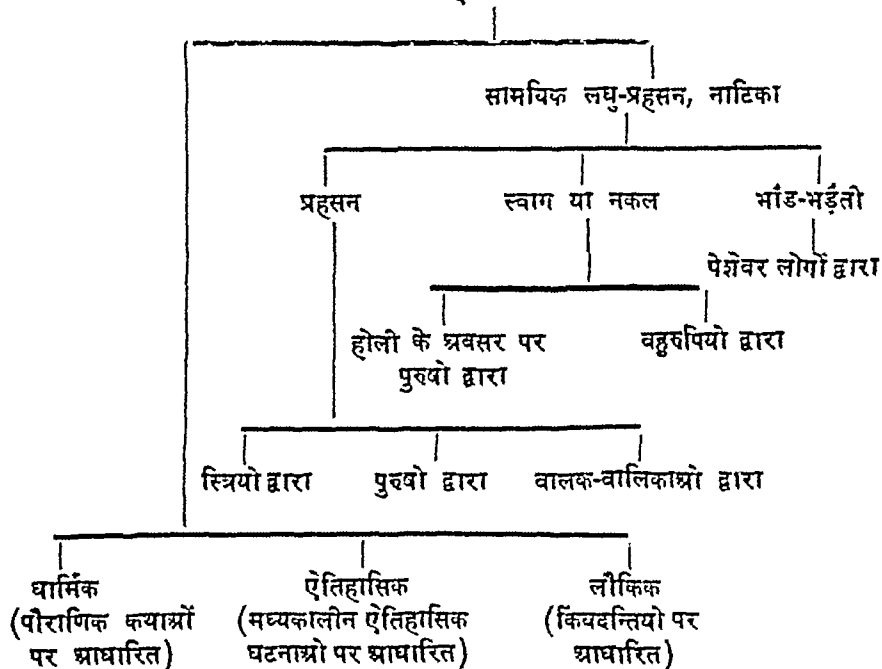
युगो से प्रचलित लोक-नाट्य परम्परा का अपना स्वरूप विकसित हो कर एक ऐसे ढंग पर आ गया है कि उसको रूढ़ कहा जा सकता है। इसलिये उसकी अपनी विशेषतायें भी क्रमशः उभर सकी हैं। लघु नाटिकाओ अथवा प्रहसनो का रूप यद्यपि व्यवस्थित नहीं है, पर लम्बे ग्रामीण ढर्रे के नाट्यो में बहुत कुछ व्यवस्थित रूप दिखाई देता है। उनकी गठन त्रिधात्मक है—जिसमें अभिनय, नृत्य और गीत तीनो का सयोजित रूप गुम्फित है। शास्त्र-सम्मत अभिनय के चारो अगो में 'आहार्य' और 'सात्विक' को छोड़ कर 'आंगिक' और 'वाचिक्' का प्राधान्य लोक-नाट्यो में द्रष्टव्य है। सक्षेप में स्थूल विशेषताओ पर निम्न क्रम से विचार किया जा सकता है।

१. भाषा और संवाद

लोक-नाटकों की भाषा काव्यमयी होती है। चूंकि ये नाटक सामूहिक अभिव्यक्ति के साधन हैं और पद्यात्मक संवादो द्वारा समूह की कल्पना-शक्ति भावो को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखती है, इसलिये इनमें गद्य का प्रभाव कम ही होता है। गद्य का प्रयोग भांडों के हास्यात्मक अभिनय अथवा इतिवृत्तात्मक प्रसगो में किया जाता है। ऐसा गद्य भी प्रायः पद्यात्मक होता है, जहां शब्दों की लड़ियां एक दूसरे से गुंथी हुई द्रुतगति से आगे बढ़ती हैं। पद्य-बद्ध सवादो की परम्परा मध्य काल के पूर्व से निरन्तर चली आ रही है। लोक में उसका प्रभाव परम्परा से पोषित होता चला आया है। इसीलिये लोक-मानस पर उसकी छाप तुरन्त पडती है। प्राय. देखा जाता है कि पद्य-बद्ध सवादों में कथन की बारीकियां दर्शकगण उसी भांति पकड़ते हैं जिस तरह सवेदनशील कलाकारों की रचनाओं के उत्कृष्ट भाव कुशल पाठकगण ग्रहण करते हैं। ऐसे अनेक अंश इन नाटकों में होते हैं, जो लोकगीतो की धुनों में गाये जाते हैं और लोकभाषा की पुरानी शब्द-योजना में अवगुंठित होते हैं। उन अशो में साधारणीकरण की सम्पूर्ण क्षमता

होती है और वे बडे सुन्दर एव नाटकीय ढग से प्रस्तुत किये जाते हैं। भाषागत वैशिष्ट्य की दृष्टि से पद्य का आधिक्य नाटको के पुरानेपन का द्योतक है जो न केवल अपने तक ही सीमित रहा अपितु सस्कृत-नाट्य-परम्परा को भी प्रभावित करने में सफल हुआ। 'चरचा या वाद' के नाम से जो लिखित रचनाएँ मिलती है उनमें ऐसे ही पद्यात्मक सवादों का बाहुल्य है। नरहरि (धन और विद्या को वाद), दुलारे कवि (सोने लोहे को झगरो या चरचा) आदि ने कुछ प्रयोग किये थे, जिनकी उपयोगिता स्वय भारतेन्दु ने भी समझी और १५ अक्तूबर और १५ नवम्बर, १८७३ ई० के 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' के अको में ऐसे दो नाटकीय सवादो को गद्य रूप में प्रकाशित भी किया।

२. कथानक

लोकनाटको में कथानक जैसा कि बताया गया अधिकतर पौराणिक, ऐतिहासिक और बहुत कम सामाजिक होते हैं। कथानकों के प्राय दो रूप सर्वत्र मिलते है। प्रथम कोटि में उन कथानको का स्थान है जो मुख्य कथा के सहारे देर रात तक चलते रहते हैं। कथानक के घुमाव जहाँ नहीं होते, पर छोटे-छोटे प्रसगों के द्वारा उनमें विस्तार होता जाता है। दूसरी कोटि में लघु प्रहसनों को महत्त्व दिया जा सकता है। लोकपरक अनुभूति और मनोरजन का स्वस्थ स्वरूप इनमें उपलब्ध है। इन प्रहसनो को किसी भी समय ग्रामो में गम्मत या मनोरंजन के अवसर पर देखा जा सकता है।

लोक नाटको के कथानको में एक प्रकार की कसावट का अभाव पाया जाता है। लोकबुद्धि, शिल्प कौशल के परिष्कृत स्तर तक पहुँची हुई नहीं होती। फिर रूढ़ स्वरूपो के प्रति धीरे-धीरे दर्शक और अभिनेता दोनो में एक ऐसा समझौता हो जाता है कि बिना कथानक की कसावट के भी कथा अपनी सहज गति से खुलती जाती है। पौराणिक कथानकों के प्रति श्रद्धा और ऐतिहासिक कथानको के प्रति कुतूहल की भावना इस अभाव का अनुभव नहीं होने देती। जगदीशचन्द्र माथुर के शब्दो में "लोक नाटको में कथानक प्राय· ढीला-ढाला होता है और पूर्वार्द्ध में जितनी विलम्बित गति से कथा बढ़ती है, उत्तरार्द्ध में उतनी ही द्रुत और अस्वाभाविक गति से घटनाओ को ढकेला जाता है। किन्तु इससे अधिक कलात्मक वे लोक-नाट्य होते हैं जिनमें घटनाओ के शिल्प-विधान के स्थान पर जीवन की झाँकियो की लड़ी होती है अथवा जिनमें पौराणिक और धार्मिक कथाओ का पूर्व परिचित दर्शक होता है। जो भी हो, लोकरगमच के दर्शक कथानक के चमत्कारपूर्ण अश अथवा घटनाओ के कुतूहलपूर्ण उद्घाटन की आशा नहीं करते। ये प्राय पहले ही से परिचित होते हैं और इसलिये कथा से प्राप्त मनोरजन उनका लक्ष्य नहीं होता बल्कि रसानुभूति द्वारा प्राप्त तृप्ति।"

३. पात्र

लोकनाट्यो के पात्र अपनी विशेषताओ से विभूषित होते हैं। वे प्राय जाने-पहिचाने एव प्रचलित समाजगत् प्रवृत्तियो के वाहक होते हैं। लपट बुड्ढा, सौत, दुर्गुणी पति, ढोंगी साधु, कर्कशा औरत आदि ऐसे पात्र होते हैं। पौराणिक एव ऐतिहासिक कथानकों में भी इन पात्रो की प्रवृत्तियाँ स्थानीय रगो सहित व्यक्त होती हैं, जिनमें पात्र और स्थान भेद का ध्यान नहीं रखा जाता। राजा रामचन्द्र लका जाते समय मच पर चार चक्कर लगा लेते हैं, अथवा कुछ जरूरी काम हो तो मच छोड कर फिर उपस्थित हो जाते हैं। पात्रों को अभिनय की पूरी स्वतन्त्रता होती है। प्राय निर्धारित

संवादों के अतिरिक्त प्रतिभाशाली पात्र अपनी ओर से कड़ियाँ जोड़ कर रससृष्टि करने में योग देते हैं।

पात्र अपनी परम्परागत शैली में मंच पर अभिनय करते हैं, किन्तु कोई भी यथार्थवादी शैली अपनाने का प्रयत्न नहीं करता। यहाँ तक कि किस गीत के साथ कैसा अभिनय, संवाद या नृत्य होगा यह रूढ़ हो गया है। परिणामतः लोक-नाट्यों का संपूर्ण आनन्द उसकी परम्परागत शैली में निहित है। दर्शकगण तड़क-भड़क की अपेक्षा उसके काव्य पक्ष में रस लेते हैं। चूँकि पात्र से उनका सीधा सम्बन्ध होता है और वे उसके गुण-अवगुण जानते हैं, इसलिये उनके अभिनय को कला की दृष्टि से नहीं अपितु मनोरंजन की दृष्टि से देखते हैं।

४. चरित्र-चित्रण

लोकनाट्यों में चरित्र चित्रण का प्रश्न कठिन नहीं है। यों तो परम्परागत नाटकों के चरित्र जाने-पहिचाने होते हैं। उनकी चरित्रगत विशेषताओं को लोकधर्मी मंच पर मोटे रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सूक्ष्म मनोदशाएँ संवेदना और सुसंस्कृत मानस को छूनेवाले तत्वों का प्रायः उनमें अभाव होता है। संवादों के माध्यम से जो कुछ व्यक्त किया जाता है उसके अतिरिक्त पात्रों की वेशभूषा और चरित्र की दृष्टि से हावभाव पर ही चित्रण अधिक निर्भर है। स्त्रियों के अभिनय के लिये पुरुष ही वेश धारण करते हैं। अतः स्त्रियों के चरित्र-चित्रण में लालित्य की कमी देखी जाती है। 'विदूषक' अपने हास-परिहास से चरित्र की आन्तरिक बातों पर प्रकाश डालता है। नायक की विशेषताओं को प्रकट करने की अपेक्षा उसके द्वारा खलनायक और अन्य पात्रों की विकृतियाँ अधिक अच्छे ढंग से प्रस्तुत की जाती हैं।

५. लोकवार्ता का समावेश

लोक-विश्वास, परम्परागत मान्यताएँ, रीति-रिवाज, अभिप्राय आदि लोकधर्मी नाटकों में कथानक, संवाद, संगीत और अभिनय के साथ आबद्ध हैं। आंचलिकता इनमें सोलह आना भरी हुई है। लौकिक आचारों के साथ लोक-भाषा की सम्पत्ति-गीत, कथाएँ, मुहावरों, और स्थानीय बोलियों के ध्वन्यात्मक प्रयोग मंच पर पात्रों द्वारा प्रकट होते हैं। चाहे जैसा भी लोकनाट्य हो, मंच पर वह परम्परा की थाती लेकर ही अवतरित होता है। इसीलिये उसे लोक-विश्वास का आधार मिल जाता है। जनसुलभ, बोधगम्य और लोकधर्मी तत्वों का उसमें पूर्णतः समावेश हुआ है। प्रायः संवादों के बीच में जहाँ भी प्रसंग आता है लोकगीतों की कड़ियाँ गायी जाती हैं। इसलिये जन, का नैकट्य उसे प्राप्त है।

६. रूप-योजना

रूप-योजना को लोकपरक नाटकों में स्वांग धारण करने के अर्थ में स्वीकार किया गया है। उसके लिये लम्बे-चौड़े प्रसाधन, अलंकार, भड़कीले वस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। मुर्दासिंगी, पौडर, कोयला, काजल आदि देशी चमक के साधनों से मुँह पोतकर अथवा मुखौटे लगा कर एवं रंगीन वस्त्र धारण कर पात्र मंच पर प्रवेश करते हैं। पहाड़ी क्षेत्र में चरित्र को व्यक्त करने के लिये--निर्धारित मुखौटे अधिक प्रचलित हैं। मैदानी लोक-नाटकों में यह रिवाज प्रायः नहीं मिलता। स्त्रियों का रूप

धारण करते समय घूँघट में अपनी मूँछ छिपा कर पुरुष पात्र उन सभी अलंकारों को धारण करता है, जो बाहर से दिखाई पड़ते हैं।

७ संगीत-योजना

संगीत लोकनाट्यों की शक्ति है। ढोलक, झांझ, मजीरे, करताल, चिकारा बाँसुरी, हारमोनियम, पेपा आदि वाद्यों के अतिरिक्त हर स्थान के अपने वाद्यों को उसमें स्थान प्राप्त है। ग्रामीण 'आर्केस्ट्रा' के सहारे अभिनेता अपने कंठ का माधुर्य बरसाने का प्रयत्न करता है। 'माच' में ढोलक और नौटंकी में नगारे के बिना काम नहीं चलता। संगीत की शैली आंचलिकता से प्रभावित होती है। ऊँची आवाज और वाद्यों की सामूहिक पर जोरदार ध्वनि, दर्शकों और नाटक करनेवालों दोनों को प्रभावित करती है। संवादों के बोल--बिना वाद्य की सहायता से खुलते नहीं। आरंभ से ले कर अन्त तक वाद्य बजते रहते हैं।

८. हास्य

हास्य लोकनाट्यों का प्राण है। विदूषक (या रंगलो) अपने अति नाटकीय हाव-भाव द्वारा जोरदार संवादों से दूर तक बैठे हुए अपार जनसमूह का मन गुदगुदाने में सफल होता है। विदूषक को नाटक के किसी भी प्रसंग में प्रवेश करने की स्वतन्त्रता है। वह रावण का मजाक उड़ाता है और राम का भी परिहास करता है। वह गहन राजनैतिक परिस्थितियों में हँसाने की सामर्थ्य रखता है। उसका अरण्य-रोदन तक हास्य का जनक होता है।

९. मंच-व्यवस्था

लोक नाटकों के मंच खुले होते हैं। मंदिर के आँगन या चौराहे पर किसी ऊँचे स्थान पर बल्लियों के सहारे एक-दो पर्दों की सजावट काफी होती है। पर्दे बदलने की व्यवस्था कभी लोक-नाटकों में नहीं होती। दृश्य की कल्पना 'मोरेलिटी प्लेज' की तरह कर ली जाती है। सभी पात्र अपने उत्तरदायित्व से परिचित होते हैं और सभी को सभी तरह के काम करने पड़ते हैं। एक आन्तरिक उत्साह का तार सबको एक ही दिशा में प्रेरित करता है। लोक-नाटकों की अव्यवस्था भी व्यवस्था ही कहलाती है।

समस्त प्रकार के लोक-नाट्यों का पर्यवेक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि १७वीं शताब्दी के पश्चात् जो स्थिरता इन नाटकों में आई वह रूढ़ हो गई है। अब समाज के मानसिक स्तर में काफी परिवर्तन हो गया है और आवश्यकता इस बात की है कि लोकनाट्यों के इसी रूढ़ शिल्प में नये कथानकों और नये भावों का प्रचार किया जाय। इसके लिये उदारचेता लेखक, अभिनेता, संगीतज्ञ और कार्यकर्ता सम्मिलित रूप से इस प्रकार की लोकधर्मी परम्परा का अध्ययन कर नई रचनाएँ लिखें और उन्हें ग्रामीण अभिनेताओं से ही प्रारम्भ में अभिनीत करवाएँ। शासन का सहयोग तो अपेक्षित है ही, पर सतत् प्रयत्न और धैर्य की आवश्यकता भी है। अतः विस्तृत योजना प्रारम्भ में बना कर इस दिशा में गतिशील होना चाहिये। राष्ट्रीय रंगमंच की कल्पना, बिना इस देश के लोकधर्मी नाटकों के अध्ययन और सहयोग के साकार नहीं हो सकती।[1]

---

[1] लोकनाट्यों की गठन विधि पर देखिये--श्री जगदीशचन्द्र माथुर का नोट, परिशिष्ट ए०।

भारतवर्ष का जन ग्रामीण है। उसकी उन्नति उसी के साधनों से की जा सकती है। एक वडी दूरी जो उसमें और हममें बनी हुई है, वह हमारे उसके रंगमच में है। वह सचेष्ट है। हमारे मच उसके सहयोग के विना सुस्त हैं। हमें इस अन्तर को दूर करना है। इसलिये नये संगठन वनाने होंगे। ग्रामीणो के उगते हुए मंच और धूल खाते हुए वाद्यो में ध्वनि का प्रचार करने के लिये हमें खुले मंच का (ओपन एयर थियेटर) का आन्दोलन सोच-समझ कर, पर दृढ़तापूर्वक आरम्भ करना है। इसके अभाव में हिन्दी का मंच न पनप सकता है और न राष्ट्रीय मच की स्थापना हो सकती है।
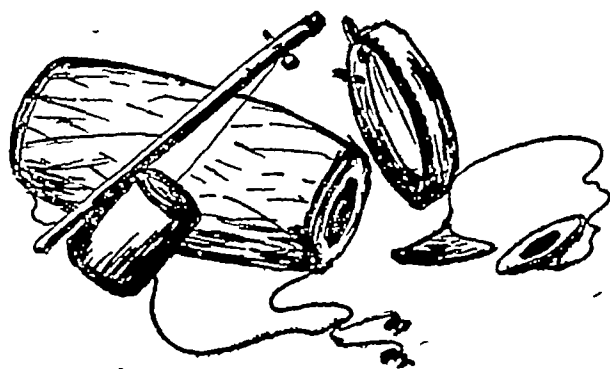
उत्तर भारत

रासलीला

'रास' शब्द की व्युत्पत्ति के सबध में अनेक प्रकार के मत उपलब्ध हैं। "रसाना समूहो रास" के अनुसार रास रसो का समूह है। महारास में कृष्ण के अनेक रूपो की कल्पना और दो गोपियो के मध्य एक-एक कृष्ण की अवस्थिति एक रसपूर्ण आयोजना है। वह भी रास है। रास में नृत्य, अभिनय और सगीत द्वारा रस की सृष्टि की जाती है। एक मत के अनुसार जिसमें कृष्ण गोपियो के साथ मण्डलाकार नृत्य करते हैं—रास है। डॉ० ककड (Kankad) का कथन है कि "रास शब्द की उत्पत्ति 'रस' से नही अपितु 'रास्' से है, जिसका तात्पर्य नृत्य के मध्य में जोर से चिल्ला उठने से है, जैसा कि आजकल ग्रामीण लोक-नृत्य अथवा आदिवासी नृत्य में देखा जाता है।"[१] डॉ० दशरथ ओझा का मत है—"रास शब्द सस्कृत भाषा का नही है, प्रत्युत देशी भाषा का है, जो सस्कृत बन गया और देशी नाट्य-कला को जो रास के नाम से प्रसिद्ध थी, रास के नाम से ही सस्कृत ग्रन्थो में उद्धृत कर दिया है। रास के देशीय होने का अनुमान इस बात से भी होता है कि रासो और रासक नाम से राजस्थानी में इसका प्रयोग भी मिलता है, और वह रास जिसका विशेष सबध गोपियो से है, ग्वालो में प्रचलित कोई देशीय नाटक हो सकता है, जो सस्कृत नाटक से अपहृत नही माना जा सकता।"[२] रस की परिभाषा व्याख्या का विषय है, तो भी 'रस' रास का मूल तत्त्व है। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी वीरगाथा कालीन 'रासो' का सबध 'रासक' से बताते हैं। शुक्ल जी ने लिखा है—"बीसलदास रासो में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आया है। अत हमारी समझ में इसी 'रसायण शब्द' से 'रासो' हो गया है।"[३] कदाचित् रस शब्द मे परिपूरित होने के कारण ही वीरोचित लीलाओ के ग्रन्थ 'रासो' कहलाने लगे हो। हो सकता है उनमें अभिनय का समावेश भी हुआ हो। भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में रासक एक उपरूपक है। उन्होंने रासक के तीन भेद (१) ताल रासक, (२) दण्ड रासक और (३) मडल रासक बताये हैं।

ताल रासक नामस्यात् तत्त्रिधा रासक स्मृतम्।
दण्ड रासकमेकन्तु तथा मडल रासकम्॥

नाट्य-शास्त्र का समय प्रथम शताब्दी के लगभग स्वीकार किया गया है। अत. प्रथम शताब्दी के पूर्व हमारे यहाँ रास की यह परम्परा लोक में अवश्य विद्यमान थी। किन्तु 'नारद पचरात्र' (ज्ञानामृत सार सहिता) में इस बात का उल्लेख मिलता है कि कृष्ण गोपियो के साथ नृत्य एव लीलाएँ करते थे। यह रचना चौथी शताब्दी ई० पू० की बताई जाती है। सम्भवत इसीलिये मेकडोनल भारतीय नाटकों की उत्पत्ति का आधार

---

१ टाइप्स ऑफ सस्कृत ड्रामा, १४३।
२ हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, ७५–७६।
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास, ३२।

कृष्ण-भक्ति के प्रसार से मानते हैं। हेमचन्द्र (काव्यानुशासन) के मतानुसार रासक गेय रूपक है। किन्तु यह विवादरहित है कि 'रासक' नृत्य, अभिनय और सगीत की त्रिवेणी का एक मिला-जुला लौकिक रूप (रसो का समूह) है।

नाट्य-शास्त्र में वर्णित 'ताल रासक' (तालबद्ध नृत्य)[1], 'दण्ड रासक' डण्डो को बजा कर किया जानेवाला नृत्य[2] (आजकल जिसे राजस्थान, मारवाड, ब्रज और मालवा में 'अन्ट्या रमण्या' या डण्डे का खेलना कहते हैं। वे वस्तुत मण्डलाकार एव सामूहिक पुरुष नृत्य ही हैं जो दण्ड-रासक के बहुत निकट हैं, एव 'मण्डल रासक' मण्डलाकार नृत्य रहे होगे। इस प्रकार के नृत्य के कई प्राचीन चित्र मिलते हैं।[3]

प्राचीन गुजराती साहित्य में रास ग्रन्थो की एक साहित्यिक परम्परा का उल्लेख भी कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी ने अपने ग्रन्थ 'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' (१९३५) में किया है। इस परम्परा के ग्रन्थो में दोहा-चौपाइयो का प्रयोग हुआ है, जिनमें प्रेम-कथाएँ लिखी गई हैं। ई० सन् १११८ के 'नवतव भाष्य' में यह रास-परम्परा अपभ्रश साहित्य का अग बताई गई है। मुशीजी ने गुजराती के 'भरतेश्वर बाहुबली' (११४५) से भी रास की परम्परा का सबध स्वीकार किया है।

धार्मिक ग्रथो में 'रास' दार्शनिक विचारो का स्पर्श पा कर ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप से सन्निद्ध हो रहस्यमय स्थिति तक पहुँच गया है। 'लीला' वस्तुत एक क्रिया है, यद्यपि लीला शब्द भी दार्शनिक परिभाषा में गुथा जा चुका है। भगवान् रास रूप में हैं। रस में ही उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। लीला रस-सृजन का माध्यम है। वही भगवान् की प्रेमस्वरूपा अभिव्यक्ति है।

'रासलीला' प्रचलित अर्थ में कृष्ण-चरित्र से सबधित नृत्य—अभिनयात्मक विविध लीलाओ का द्योतक शब्द है। नृत्य के साथ आशिक रूप में सवादो एव प्रधान रूप से सगीत का इसमें प्रसार है। अतएव रासलीला कतिपय नाटक के तत्त्वो से अनुप्राणित हो कर अपन लोक-ग्राही रूप में खुले रगमच की नाट्य सपत्ति है।

भारतीय साहित्य एव कला में कृष्ण एक ऐसे चरित्रनायक रहे हैं, जो न केवल

---

१. नाट्यशास्त्र के अनुसार 'ताल रासक' में निपुण जाति 'भाट' बताई गई है। राजस्थान के भाट यद्यपि आश्रित एव पेशेवर यश-वर्णन करनेवाली जातियो में गिने जाते हैं तथापि किसी समय वे नृत्य-गान में निपुण रहे होगे, यह प्रमाणित होता है।

२ जिनदत्त सूरी ने इसे 'लकुट रासक' नाम कदाचित् इसीलिये दिया प्रतीत होता है कि लकुट का तात्पर्य लकडी या डंडे से है। 'सप्त क्षेत्र रास' ग्रन्थ में 'दण्ड रासक' करनेवाली जाति 'नर्तक' बताई गई है। यह अवश्य ही इस नृत्य में विशेष निपुण रही होगी। सूरी ने 'दण्ड रासक' देखना वर्ज्य घोषित किया था।

३. 'हल्लीश' नामक नृत्य इसी 'मडल-रासक' का एक भेद है। भरत ने दोनो की चर्चा की है। जिससे प्रगट होता है कि दोनो में बहुत कुछ नैकट्य होते हुए भी थोडा भेद है। वात्सायन ने इसका उल्लेख किया है (हल्लीशक क्रीडनकै गायेन)। अभिनव गुप्त (९वीं शताब्दी) ने तो नाट्यशास्त्र की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दो में हल्लीश नृत्य को मडलाकार नृत्य बताया है—"मडलेन तु यन्नाट्य हल्लीशकिमितिस्मृतम्।" इससे ज्ञात होता है कि ९वीं शताब्दी तक दोनों नृत्यो में निहित भेद लुप्त हो गया होगा।

अपनी लीलाओं के लिये विख्यात हैं, वल्कि दर्शन, साहित्य और राजनीति में भी उन का प्रवेश निस्सदेह प्रभावी है। मध्यकालीन उत्तर भारत में कृष्ण-लीलाएँ अपनी लौकिक रंगमच का विषय बनी। रासलीला उसी परम्परा की सम्पत्ति है। इस रामलीला का सवध न केवल श्रीमद्‌भागवत से है, वल्कि द्विवेदीजी का अनुमान है कि "भागवत महापुराण में श्री कृष्णलीला की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है, उससे भिन्न एक और भी परम्परा थी जिसका प्रकाश जयदेव के 'गीत गोविन्द' में हुआ। भागवत-परम्परा की रासलीला शरद्‌पूर्णिमा को हुई थी, गीत गोविन्द-परम्परा का रास वसन्त काल में है।

सूरदास आदि परवर्ती भक्त कवियो में ये दोनो परम्पराएँ एक-दूसरे से गुथ कर एक हो गई है।"[1] व्रज तो इन लीलाओं का केन्द्र रहा है। द्वापर में भगवान् श्री कृष्ण का आविर्भाव होते ही थोडे ही समय के पश्चात् जन-जन में उनकी लीला अभिनय के रूप में प्रश्रय पाने लगी। दान-लीला, मान-लीला, माखन-चोरी, ग्वाल-वालो के साथ ठिठोली, आदि से अभिनय एव अष्टछाप के कवियो की रचनाओ पर विशेषत सूर के पदो का आधार ले कर विविध लीलाएँ की जाती रही हैं। १५-१६ वी शताब्दी में व्रज-भूमि में यह परम्परा नये उत्साह के साथ प्रकट हुई। नन्ददास, व्रजवासीदास, ध्रुवदास आदि भक्तो ने रासों की रचना कर रास-परम्परा के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। आजकल रास की अनेक पुस्तकें उत्तर-भारत में मिलती हैं जिनमें कथोपकथन की गीत-बद्ध शैली के साथ सगीत का निर्देश भी कही-कही उपलब्ध है। व्रजवासीदास कृत 'व्रज-विलास' एव नारायण स्वामी रचित 'व्रज-विहार' तो रास रसिको की प्रिय पुस्तकें हैं।

१४वी शताब्दी के पश्चात् वैष्णव भक्तो एव आचार्यों ने रास को उत्कर्ष प्रदान करने के लिये लीलाओ का जो आश्रय ग्रहण किया वह प्रधानत धार्मिक भावो से सव-धित था। जैन ग्रन्थो के रास तो प्राय सभी धार्मिक हैं। वीररस प्रधान रासो की वैसे ही परिमिति है और धार्मिक आन्दोलनो के कारण वे पीछे भी रह गये। वल्लभाचार्य जैसे आचार्य द्वारा उसमें कदापि शृगारी भावो को अनियत्रित प्रश्रय नही मिला होगा। महाप्रभु की इस रस-योजना में अनेक तत्कालीन कलाकारो का सहयोग रहा है। कहते हैं स्वामी हरिदास, हित हरिवश राय (१५५६ वि०), घमण्डीदेव और नारायण भट्ट[2] भी वल्लभाचार्य के साथ रास के सस्थापको में है। वताया जाता है कि घमडीदेव ने ललिता सखी के गाँववाले कुछ लडको को अभिनय की शिक्षा दी और अकवर के दरवार के नृत्यकार वल्लभ ने वृन्दावन आ कर उन्हें नृत्य सिखाया। इस तरह एक रास-मडली वनी जो अपने समय में वहुत प्रख्यात हुई।

जनरुचि की अनुकूलता एव अभिनयात्मक प्रसाधन के लोकग्राही विकास में रास-लीला अधिकाशत शृगारमयी होती रही, जिसका परिणाम यह हुआ कि इतर प्रान्तो में ये लीलाएँ वहाँ की परम्परागत नाट्य सम्पत्ति को भी प्रभावित करने लगी। आज रासलीला लोक-नाट्य ही है एव खुले रगमच तथा उसके प्रसाधनो को देखते हुए वह

---

१. मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ १३५।

२. ग्राउस महोदय नारायण भट्ट को रासलीला का संस्थापक मानते हैं। उन्होंने रास को यूरोप के 'मिरेकल प्लेज' के समान मानते हुए दृश्यरूपक बताया है।
—देखिए 'ए डिस्ट्रिक्ट मेमॉयर ऑफ मथुरा', पृ० ८६, सन् १८००।
ओटन उसे वैले (समूह नृत्य) और नारगिन हेबन धार्मिक रूपक मानते हैं।

कृष्ण-भक्ति के प्रसार से मानते हैं। हेमचन्द्र (काव्यानुशासन) के मतानुसार रासक गेय रूपक है। किन्तु यह विवादरहित है कि 'रासक' नृत्य, अभिनय और सगीत की त्रिवेणी का एक मिला-जुला लौकिक रूप (रसो का समूह) है।

नाट्य-शास्त्र में वर्णित 'ताल रासक' (तालबद्ध नृत्य)[१], 'दण्ड रासक' डण्डो को बजा कर किया जानेवाला नृत्य[२] (आजकल जिसे राजस्थान, मारवाड, ब्रज और मालवा में 'अन्ट्या रमण्या' या डण्डे का खेलना कहते हैं। वे वस्तुत मण्डलाकार एव सामूहिक पुरुष नृत्य ही हैं जो दण्ड-रासक के बहुत निकट हैं, एव 'मण्डल रासक' मण्डलाकार नृत्य रहे होंगे। इस प्रकार के नृत्य के कई प्राचीन चित्र मिलते हैं।[३]

प्राचीन गुजराती साहित्य में रास ग्रन्थो की एक साहित्यिक परम्परा का उल्लेख भी कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी ने अपने ग्रन्थ 'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' (१९३५) में किया है। इस परम्परा के ग्रन्थो में दोहा-चौपाइयो का प्रयोग हुआ है, जिनमें प्रेम-कथाएँ लिखी गई हैं। ई० सन् १११८ के 'नवतव भाष्य' में यह रास-परम्परा अपभ्रश साहित्य का अग बताई गई है। मुशीजी ने गुजराती के 'भरतेश्वर बाहुबली' (११४५) से भी रास की परम्परा का सबध स्वीकार किया है।

धार्मिक ग्रथों में 'रास' दार्शनिक विचारो का स्पर्श पा कर ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप से सम्बिद्ध हो रहस्यमय स्थिति तक पहुँच गया है। 'लीला' वस्तुत एक क्रिया है, यद्यपि लीला शब्द भी दार्शनिक परिभाषा में गुथा जा चुका है। भगवान् रास रूप में हैं। रस में ही उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। लीला रस-सृजन का माध्यम है। वही भगवान् की प्रेमस्वरूपा अभिव्यक्ति है।

'रासलीला' प्रचलित अर्थ में कृष्ण-चरित्र से सबधित नृत्य—अभिनयात्मक विविध लीलाओ का द्योतक शब्द है। नृत्य के साथ आशिक रूप में सवादों एव प्रधान रूप से सगीत का इसमें प्रसार है। अतएव रासलीला कतिपय नाटक के तत्त्वों से अनुप्राणित हो कर अपन लोक-ग्राही रूप में खुले रगमच की नाट्य सपत्ति है।

भारतीय साहित्य एव कला में कृष्ण एक ऐसे चरित्रनायक रहे हैं, जो न केवल

---

१. नाट्यशास्त्र के अनुसार 'ताल रासक' में निपुण जाति 'भाट' बताई गई है। राजस्थान के भाट यद्यपि आश्रित एव पेशेवर यश-वर्णन करनेवाली जातियो में गिने जाते हैं तथापि किसी समय वे नृत्य-गान में निपुण रहे होंगे, यह प्रमाणित होता है।

२ जिनदत्त सूरी ने इसे 'लकुट रासक' नाम कदाचित् इसीलिये दिया प्रतीत होता है कि लकुट का तात्पर्य लकडी या डडे से है। 'सप्त क्षेत्र रास' ग्रन्थ में 'दण्ड रासक' करनेवाली जाति 'नर्तक' बताई गई है। यह अवश्य ही इस नृत्य में विशेष निपुण रही होगी। सूरी ने 'दण्ड रासक' देखना वर्ज्य घोषित किया था।

३. 'हल्लीश' नामक नृत्य इसी 'मडल-रासक' का एक भेद है। भरत ने दोनों की चर्चा की है। जिससे प्रगट होता है कि दोनो में बहुत कुछ नैकट्य होते हुए भी थोडा भेद है। वात्सायन ने इसका उल्लेख किया है (हल्लीशक क्रीडेनकं गायेन)। अभिनव गुप्त (९वीं शताब्दी) ने तो नाट्यशास्त्र की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दो में हल्लीश नृत्य को मडलाकार नृत्य बताया है—"मडलेन तु यन्नाट्य हल्लीशकमितिस्मृतम्।" इससे ज्ञात होता है कि ९वीं शताब्दी तक दोनो नृत्यो में निहित भेद लुप्त हो गया होगा।

अपनी लीलाओं के लिये विख्यात हैं, बल्कि दर्शन, साहित्य और राजनीति में भी उन का प्रवेश निस्संदेह प्रभावी है। मध्यकालीन उत्तर भारत में कृष्ण-लीलाएँ अपनी लौकिक रंगमच का विषय बनी। रासलीला उसी परम्परा की सम्पत्ति है। इस रासलीला का संबंध न केवल श्रीमद्भागवत से है, बल्कि द्विवेदीजी का अनुमान है कि "भागवत महापुराण में श्री कृष्णलीला की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है, उससे भिन्न एक और भी परम्परा थी जिसका प्रकाश जयदेव के 'गीत गोविन्द' में हुआ। भागवत-परम्परा की रासलीला शरद्पूर्णिमा को हुई थी, गीत गोविन्द-परम्परा का रास वसन्त काल में है। सूरदास आदि परवर्ती भक्त कवियों में ये दोनों परम्पराएँ एक-दूसरे से गुथ कर एक हो गई हैं।"[1] ब्रज तो इन लीलाओं का केन्द्र रहा है। द्वापर में भगवान् श्री कृष्ण का आविर्भाव होते ही थोडे ही समय के पश्चात् जन-जन में उनकी लीला अभिनय के रूप में प्रश्रय पाने लगी। दान-लीला, मान-लीला, माखन-चोरी, ग्वाल-वालों के साथ ठिठोली, आदि से अभिनय एव अष्टछाप के कवियों की रचनाओं पर विशेषत सूर के पदों का आधार ले कर विविध लीलाएँ की जाती रही हैं। १५-१६ वी शताब्दी में ब्रज-भूमि में यह परम्परा नये उत्साह के साथ प्रकट हुई। नन्ददास, ब्रजवासीदास, ध्रुवदास आदि भक्तों ने रासों की रचना कर रास-परम्परा के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। आजकल रास की अनेक पुस्तकें उत्तर-भारत में मिलती हैं जिनमें कथोपकथन की गीत-बद्ध शैली के साथ संगीत का निर्देश भी कहीं-कहीं उपलब्ध है। ब्रजवासीदास कृत 'ब्रज-विलास' एव नारायण स्वामी रचित 'ब्रज-विहार' तो रास रसिकों की प्रिय पुस्तकें हैं।

१४वी शताब्दी के पश्चात् वैष्णव भक्तों एव आचार्यों ने रास को उत्कर्ष प्रदान करने के लिये लीलाओं का जो आश्रय ग्रहण किया वह प्रधानत धार्मिक भावों से संबधित था। जैन ग्रन्थों के रास तो प्राय सभी धार्मिक हैं। वीररस प्रधान रासों की वैसे ही परिमिति है और धार्मिक आन्दोलनों के कारण वे पीछे भी रह गये। वल्लभाचार्य जैसे आचार्य द्वारा उसमें कदापि शृंगारी भावों को अनियन्त्रित प्रश्रय नहीं मिला होगा। महाप्रभु की इस रस-योजना में अनेक तत्कालीन कलाकारों का सहयोग रहा है। कहते है स्वामी हरिदास, हित हरिवंश राय (१५५६ वि०), घमण्डीदेव और नारायण भट्ट[2] भी वल्लभाचार्य के साथ रास के संस्थापकों में हैं। बताया जाता है कि घमंडीदेव ने ललिता सखी के गाँववाले कुछ लडकों को अभिनय की शिक्षा दी और अकबर के दरबार के नृत्यकार वल्लभ ने वृन्दावन आ कर उन्हें नृत्य सिखाया। इस तरह एक रास-मंडली बनी जो अपने समय में बहुत प्रख्यात हुई।

जनरुचि की अनुकूलता एव अभिनयात्मक प्रभावन के लोकग्राही विकास में रास-लीला अधिकांशत शृंगारमयी होती रही, जिसका परिणाम यह हुआ कि इतर प्रान्तों में ये लीलाएँ वहाँ की परम्परागत नाट्य सम्पत्ति को भी प्रभावित करने लगी। आज रासलीला लोक-नाट्य ही है एव खुले रंगमच तथा उसके प्रभावनों को देखते हुए वह

---

१. मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ १३५।

२ ग्राउस महोदय नारायण भट्ट को रासलीला का संस्थापक मानते हैं। उन्होंने रास को यूरोप के 'मिरेकल प्लेज' के समान मानते हुए दृश्यरूपक बताया है।
—देखिए 'ए डिस्ट्रिक्ट मेमॉयर ऑफ मथुरा', पृ० ८६, सन् १८००।
ओटन उसे वैले (समूह नृत्य) और नारंगिन हेवन धार्मिक रूपक मानते हैं।

'लोक' की ही वस्तु सिद्ध होती है। रासक का उल्लेख ऊपर किया गया है। मुनि जिनविजयजी ने 'सदेश रासक' की खोज की है, जिसका रचना-काल १३वी शताब्दी प्रतीत होता है। श्री ओझा ने इसकी कथा सक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कुछ सवादो का अनुवाद प्रस्तुत किया है। उसे यहाँ उद्धृत करना प्रासगिक होगा।

"विजयनगर की एक युवती अपने प्राणनाथ के वियोग में अश्रु बहाती, वियोगाग्नि में झुलसती, पति-दर्शन को लालायित पथ पर खडी, चारो ओर निहार रही है। इतने में एक पथिक आता है, जिसके पास पहुँच कर हिचकियो के साथ पति को सदेश भेजना चाहती है। उसकी विपन्नावस्था देख कर पथिक उसे एक गाना सुनाता है। पथिक और विरहिणी में इस प्रकार सवाद होता है—

विरहिणी—"आप कहाँ से आते हैं, कहाँ जायेंगे ?"

पथिक—"भद्रे ! मैं उस शाम्बपुर से आ रहा हूँ जहाँ भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर प्राकृत के मधुर गान सुनाई पडते हैं, वेदज्ञ वेद की व्याख्या करते हैं, कही-कही रासको का अभिनय नटो द्वारा किया जाता है।"

० 　　　० 　　　० 　　　०

पथिक—"अब मुझे प्रस्थान करना चाहिये। आप अपनी अश्रुधारा रोकिये अन्यथा मुझे अपशकुन के कारण मार्ग में आपत्ति की आशका होगी।"

विरहिणी—"आपकी यात्रा मगलमय हो।"

पथिक—"सूर्यास्त हो रहा है। आप अपना सदेश सक्षेप में सुनाइये। अब मुझे अपने पथ पर अग्रसर होना है। कृपा करके इतना बता दीजिये कि आप कब से इस विरहाग्नि में झुलस रही हैं ?"

विरहिणी—"जब मेरे प्राणनाथ विदेश चले ग्रीष्म के दिन थे, तब से एक के बाद दूसरी ऋतु नई वेदना ले कर आती है।"

रास में कथानक सक्षिप्त और सूचना द्वारा दृश्य-परिवर्तन की योजना मिलती है। १५वीं शताब्दी में सम्भवत रास की तीन श्रेणियाँ हो गई—(१) जन-नाटक के रूप में, (२) 'चरिउ' के रूप में और (३) 'रासो' के रूप में।

जहाँ कही भी रासलीला का प्रदर्शन होता है, श्रद्धालु जनता मन्त्र-मुग्ध हो कर देर तक बैठी रहती है। पात्रो के पद्यात्मक सवाद लोगों को प्रभावित करते हैं। रास-लीला के नायक कृष्ण और प्रधान नायिका राधा होती है। राधा गोपियो के साथ मच पर प्रवेश करती है। खलनायक कस है जो रसनागर कृष्ण का एक दम विरोधी है, अत उसके सवाद पद्यबद्ध न होकर गद्यमय होते हैं।

रासलीला की उत्पत्ति के विषय में श्रीमद्भागवत की यह कथा उल्लेखनीय है, जिसमें राधा एव अन्य गोपियो में अहकार और अभिमान उत्पन्न होने के कारण प्रधान नायक कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। उन्हें स्मरण करने और उनकी लीलाएँ करने से वे पुन प्रकट हुए। इससे सिद्ध होता है कि रासलीला की उत्पत्ति वियोग-शृगार से हुई। फिर भी यह निर्विवाद है कि भागवत धर्म के प्रसार ने रासलीला को बहुत आगे बढाने में योग दिया।

एक किंवदन्ती के अनुसार रासलीला मणिपुरी नृत्य की उत्पत्ति का आधार मानी जाती है। एक बार शिवजी रासलीला का आयोजन कर रहे थे तभी पार्वती ने नृत्य और घुंघरू की ध्वनि सुनी और उसके पश्चात् शिवजी से रासलीला के दर्शन कराने का

अनुरोध किया। श्रीकृष्ण ने यह स्वीकार नही किया किन्तु पार्वती के अनुरोध का अनुमान कर किसी गुप्त स्थान पर वह आयोजन पुन करने की स्वीकृत दे दी। शिवजी ने बडे यत्न से एक स्थान खोज निकाला। उन्होने देवी-देवताओ, गन्धर्वों, अप्सराओ आदि को रासलीला में सम्मिलित होने का निमत्रण भेजा। नदी मृदग ले कर, ब्रह्मा शख ले कर और इन्द्र वेणु ले कर उपस्थित हुए। नागराज की कृपा से सम्पूर्ण स्थान आलोकमय हो गया। गधर्वो ने अपना स्वर्गीय सगीत आरम्भ किया। रासलीला प्रारभ हुई। यह रासलीला लगातार सात दिन और सात रात होती रही, तभी से 'मणिपुरी नृत्य परम्परा' आरम्भ हुई।

कालियानाग के दमन के पश्चात् श्रीकृष्ण ने वृन्दावनवासियो के साथ नृत्य किया था। वह नृत्य वस्तुत लोकनृत्य ही होगा जिसे रास की सज्ञा दी गई। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भागवत पुराण में उपलब्ध रासलीला की जो विस्तृत चर्चा की, उसमें राधिका के साथ कृष्ण के नृत्य के अतिरिक्त पुरवासियो सहित नृत्य का भी उल्लेख है। यह नृत्य गोलाकार हुआ करता था। कृष्ण मध्य में और उनके आस-पास गोपियो के जोडे नृत्य करते थे। कई प्राचीन चित्रो में राधिका के साथ कृष्ण मध्य में बताये गये हैं। तालियाँ दे कर नृत्य करते हुए चित्र भी उपलब्ध हैं।

गुजरात में सत कवि नरसिह मेहता (१५वी शताब्दी) के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होने कृष्ण की रासलीला का दर्शन किया था। उस समय वे हाथ में मशाल लिये हुए थे। रास-दर्शन में वे इतने तल्लीन हो गये कि मशाल उनके हाथ को ही जलाने लगी।

रास-नृत्य की समानता गुजरात के 'गरबा-नृत्य' से बहुत मिलती है। वैसे गुजरात में 'रासडो' भी एक ग्रामीण नृत्य का प्रकार है। सूरत के निकटवर्ती ग्रामो में मोरपखी को बाँध कर देवी के समक्ष जो नृत्य किया जाता है उसे 'घोर्या रास' कहा जाता है। रास के अधिकाश गीत गरबा में भी पाये जाते हैं। कुछ अशो में रास एक लोक-नृत्य भी है। अभिनय का स्पर्श पा कर 'रास' लोक-नाट्य की कोटि में भी आ गया है।

रासलीला की परम्परा हिन्दी साहित्य की ही वस्तु नही, अपितु उत्तर भारत तथा उसके निकटवर्ती एव सुदूर प्रान्तो के साहित्य की भी सम्पत्ति है। लोक-नाटको की परम्परा में रासलीला की कडियाँ दृष्टव्य हैं। रास ने जहाँ एक ओर नृत्य की भूमिका प्रस्तुत की है वहाँ दूसरी ओर नाट्य-सामग्री की दृष्टि से लीलाओ में अभिनय सबधी उपकरण भी दिये हैं।

रास ग्रन्थो की खोज ने हिन्दी नाट्य के आरम्भ का समय तेरहवीं शताब्दी प्रमाणित किया है। रासो की परम्परा ने सैकडो वर्षो तक हिन्दी के आदिकाल को सँवारा है। अपभ्रश में उपलब्ध 'रास' साहित्य का यथोचित अनुसधान और भी अधिक सम्भावनाओ को प्रकाश में ला सकता है। 'रास' से सम्बन्धित 'रहस' शब्द की चर्चा विद्वानों ने की है जो 'रहस्य' का विकृत रूप प्रतीत होता है। कहा गया है कि उपलब्ध रास-नाट्य को 'रहस' कहा जाता था। श्रीकृष्णदास के शब्दों में - "वाजिदअली शाह अपने यहाँ 'रहस' ही खेलता था और उसके अभिनय के लिये कैसरबाग में 'रहसखाना' भी बनवाया था।"[1]

---

१. साहित्यकार—अक १६, वर्ष २, पृष्ठ ६५

रास की परम्परा कृष्णलीला के विविध प्रसगो से पूर्णत आवृत्त है । आभीरो के नृत्य, गोप-गोपिकाओ की लीलाएँ, कृष्ण सबधी विभिन्न प्रहसन वस्तुत रासलीला के अन्तर्गत आते हैं । कथोपकथन का अपना अस्तित्व इन नाट्यो में प्राय मौखिक ही रहा है। अब्दुर्रहमान ने रासको की उपादेयता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "वहु-रुपिये सुसम्बद्ध रासो का सवादों के रूप में प्रदर्शन किया करते हैं (कहु वहु-रूपिणी वद्धहु रासउ भासियई) ।" इसके अतिरिक्त अन्य रासो में मगलाचरण से लगा कर आशीर्वचना तक के समस्त नाटक-तत्त्वों का समावेश मिलता है । डॉ० दशरथ ओझा ने हिन्दी नाटको के आरम्भ की चर्चा करते हुए रासको का महत्त्व स्वीकार किया है । इस शैली के नाट्कों में निम्न विशेषताओ की चर्चा ओझा जी ने की है —

१ नाटक छन्दोबद्ध एव गेय होते हैं ।
२ गद्य भाव प्राय उपेक्षित होता है ।
३ नाटक के पात्र प्रारम्भ से अन्त तक मच पर ही रहते हैं । प्रवेश और निष्क्र-मण का सकेत नही मिलता है ।
४ नृत्य और गीत का प्राधान्य होता है ।
५ मगलाचरण और प्रशस्ति पाठ स्वाग नाट्को की तरह होता है ।
६ अन्त में नाटक-रचना का प्रयोजन घोषित किया जाता है ।
७ भाषा तत्सम शब्दो से वोझिल और देशज उक्तियो से युक्त होती है ।

रासको के विकास क्रम की साधारण स्थिति प्रथम तीन भागो में विभाजित की जा सकती हैं ।

१ जैन रासको की परम्परा, जो ब्रज में प्रचलित रासलीला के प्रारम्भ से चली आ रही थी । १६वी शताब्दी तक इस जैन-परम्परा का प्रभाव बना रहा ।
२ वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ ही कतिपय आचार्यों ने श्रीमद्भागवत के विविध प्रसगों से कथानक ले कर स नाट्य शैली का आश्रय लिया । यह परम्परा नन्ददास तक अपने अनगढ स्वरूप में चलती रही ।
३ सत्रहवी शताब्दी के मध्य से ले कर नन्ददास द्वारा परिष्कृत रासलीला श्री वियोगी हरि रचित 'छद्मयोगिनी लीला' (सवत १९७८ वि०) तक सतत् रूप से बनी रही ।
४ इसके आगे रासलीला विभिन्न लीलाओ के प्र ोग का आधार बनी । उसका गीति-नाट्यवाला स्वरूप धीरे-धीरे गद्य की ओर झुकने लगा । परिणाम-स्वरूप विकृतियो का समावेश हुआ । पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो का प्रभाव भी इस परिवर्तन का कारण हुआ ।

रासलीला का आज के ग्रामीण जीवन में जो महत्त्व है, उसके मूल में श्रद्धा और भक्ति तो है ही, पर कई शताब्दियो से पोषित लगाव भी दृष्टव्य है । तनिक परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ यह शैली और भी अधिक प्रभावशाली बनायी जा सकती है । लोक-नाट्यो में कीर्तनियाँ, जात्रा और भवाई के ढग रास के निकट जान पडते हैं । खोज करने पर रासलीला के प्रति और भी अधिक सम्भावनाएँ उभर सकती है ।

रासलीला

रामलीला के दो पात्र (साधु और राजा के वेष में)

[पृ० २३]

रामलीला

रामलीला का आरम्भ महाकवि तुलसीदास ने किया है। कुछ विद्वानो का भी यही मत है। रामलीला, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, राम के जीवन से सबधित है और इसीलिये उसका स्थान धार्मिक लोकमच की श्रेणी में है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर के अनुसार उक्त मत में 'महान् साहित्यिक सत्य छिपा पडा है।' आपका कथन है कि "तुलसीकृत रामचरितमानस नाटकीय वर्णन है।" नाटकीय वर्णन (Dramatic Narative) इस अर्थ में कि रामचरितमानस केवल पाठ करने की कथा मात्र नही, अपितु वह मच पर अभिनेय भी है। ग्रथो के पाठ किए जाने के अनेक उल्लेख प्राप्त है। रामायण की कथा कहनेवाले ग्रामो में 'पाठक' और 'धारक'—दो भागो में बँट जाते हैं। एक दल रामायण से पाठ करता और दूसरा उसकी व्याख्या। कभी-कभी इस व्यवस्था में अभिनय भी सम्मिलित हो जाता है। जिससे लोक-मच पर राम-लीला को प्रश्रय प्राप्त होता है। साँची में उत्कीर्ण कुछ दृश्य इस परम्परा की प्राचीनता को प्रकट करते हैं। राम की कथा से तो लोग परिचित थे ही, पर उसी कथा में सवाद-चमत्कार द्वारा रस-भाव उत्पन्न करने की दृष्टि से तुलसी ने जो रचना की, वह सवादात्मक कही जा सकती है। इन 'सवादो' को एक सूत्र में बाँधनेवाली कडी यानी—सूत्रधार के सकेत, आगमन और प्रस्थान की सूचनाएँ, कथानक की गति—का कोई ब्योरा नही मिलता। जान पडता है ये सब निर्देश मौखिक हुआ करते थे, जैसा रामलीला में आज तक होता है। 'रामचरितमानस' के अनेक सवाद तो छोटे-छोटे एकाकी नाटक ही जान पडते हैं। कुछ विद्वानो के मतानुसार 'अयोध्याकाण्ड' में घटनाओ का गुम्फन, चरित्र-विकास, आन्तरिक और बाह्य द्वद्व एव करुण-रस का पर्यवसान इन सभी नाटकीय अगो का निरूपण इस खूबी के साथ हुआ है कि उसे यूनानी दुखान्त नाटको की श्रेणी में रखा जा सकता है। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि 'रामचरितमानस' के कवि की नजर बराबर रामचन्द्र की लीलाओ के नाटकीय दर्शन की ओर रही है, समूचा कथानक सवाद के माध्यम से अनावृत्त हुआ है और कई स्थानो पर विभिन्न प्रकृति के पात्रो द्वारा तर्कपूर्ण शैली में वार्तालाप का प्रयोग रगमच के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। रामलीला-रगमच की कतिपय विशेषताएँ उसे यूरोप के 'पैशन प्लेज' के समकक्ष रख देती हैं। उत्तर प्रदेश के कई नगरो में रामलीला-प्रदर्शन एक ही मच एव प्रेक्षागृह में न होकर भिन्न-भिन्न स्थानो पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण और पूर्वस्थित पृष्ठ-भूमि से लाभ उठाते हुए किया जाता है। वनवास तक की लीलाएँ मन्दिरो में होती हैं, गगापार के लिये नगर के किसी जलाशय अथवा नहर को चुना जाता है। चित्रकूट और उसके बाद की लीलाएँ नगर के बाहर एक विस्तृत मैदान को घेर कर की जाती हैं, भरत-मिलाप और राम-तिलक के लिये पुन मडली नगर को वापस आती है। इस तरह रामलीला का रगमच अपने ढग का यथातथ्यवादी (रियलिस्टिक) रगमच है और साथ ही वस्तु-विषय की महत्ता का द्योतक भी।"[1]

इस प्रकार के यथातथ्यवादी रगमच का एक और रूप देखने में आया है, जिसमें विस्तृत मैदान के दो विरोधी छोर लका और अयोध्या मान लिये जाते हैं। मध्य में एक उन्नत मच पर अभिनय का आयोजन किया जाता है। 'पाठक' और 'धारक मच' पर

1. आलोचना--हिन्दी रगमच और नाट्य-रचना का विकास, अक ६।

ही एक ओर बैठते है। प्रसग आरम्भ होने पर रावण लका से चल कर आता है और राम अयोध्या से। भूमि के चारो ओर दर्शक के लिये स्थान होता है। इस प्रकार की व्यवस्था कुछ स्थानों पर स्थानीय रूप से रामलीला के लिये कर ली जाती है। स्थायी व्यवस्था में लका और अयोध्या के स्थान पर पक्के चबूतरे बना कर उन पर स्थायी अथवा अस्थायी कक्ष बनाये जाते हैं। इन कक्षो में पात्रो के लिये आवश्यक प्रसाधन और विश्राम की व्यवस्था होती है। मैदान के एक भाग में वनवास का चित्र प्रस्तुत करने के लिये कुटिया भी छवा ली जाती है। सौभाग्य से मैदान में कुछ पेड हुए तो कुटिया की शोभा का क्या कहना! इस प्रकार के खुले रगमच लेखक ने मालवा और बुन्देलखण्ड की सीमा पर देखे है। विदिशा के निकट प्राचीन नगर ग्यारसपुर के मच का रेखांकित मानचित्र विषय को अधिक स्पष्ट करने के लि` प्रस्तुत है
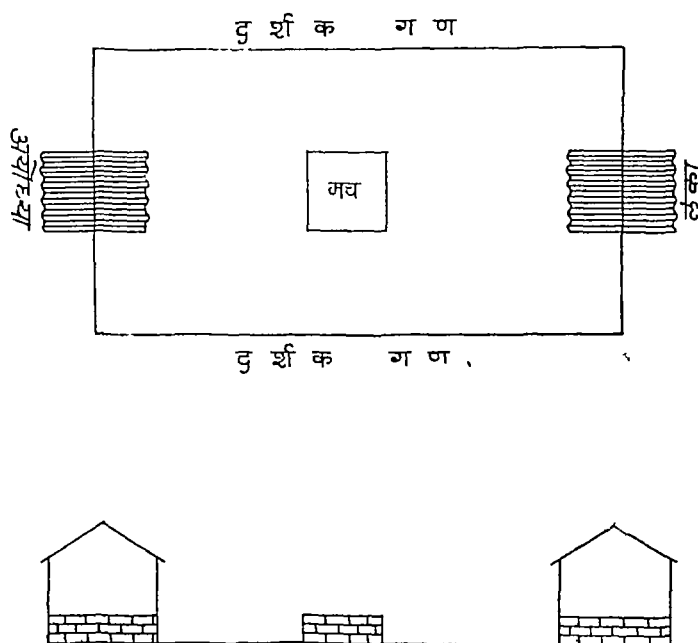
रामलीला उत्तर भारत ही नही, कुछ हेर-फेर के साथ समस्त भारतवर्ष एव उसके निकटवर्ती देशो का धार्मिक मच है। ऊपर 'रामचरितमानस' को नाटक की कसौटी पर कसा गया है। प्रो० विण्डिश, ओल्डनवर्ग तथा पिशेल तीनो ने इस प्रकार का अनुमान वदिक ऋचाओ में सवादात्मक अश देख कर भी किया था। ऋचाएँ उनके मत से नाटक के वे पद्यात्मक अश है जो सुरक्षित रह सके और बीच-बीच में प्रयुक्त होनेवाले गद्याश-परिवर्तित होते रहे, इसलिये लिपिवद्ध नही किये गये।[1] इस मत पर आगे पर्याप्त रूप में विचार किया। इस नाते 'रामचरितमानस' के सबध में मतभेद का स्थान शेष नही है। क्योकि लोक-रगमच पर उसका प्रत्यक्ष प्रयोग होता आ रहा है। रामायण और महाभारत के 'पाठक' और 'धारक' गायको से रामलीला के अभिनय सूत्र मिले हुए हैं। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व रामलीला प्रदर्शन के प्रमाण मिलते हैं। हरिवशपुराण (५०० ई० पू०) में रामलीला पर आधारित एक नाटक अभिनीत किये जाने का उल्लेख है। वाल्मीकि के

१. कीथ, दी सस्कृत ड्रामा, पृष्ठ २१–२२, १९२३।

समय वीर-पूजा के निमित्त गाये जानेवाले गीतो और अभिनय में रामकथा का प्रभाव था। लव-कुश तो रामकथा का गायन ही करते थे। कदाचित् इसीलिये 'कुशीलव' शब्द पूर्वकाल में गायक एव अभिनेता के पर्याय स्वरूप स्वीकार किया गया था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रामकथा को लिपिबद्ध करने के पूर्व लोकमच पर राम की जीवन-लीलाएँ आरम्भ हो गई थीं। बहुत सम्भव है कि तुलसीदास ने इस माध्यम को सुव्यवस्थित रूप देने के लिये मानस की रचना नाटक की दृष्टि से की हो। अतएव यदि काशी के रामनगर की रामलीला के सस्थापक तुलसी माने जाते है, तो सम्भव है, यह असत्य नही भी हो।

रामानन्द ने रामभक्ति के प्रचारार्थ बहुत सम्भव है रामलीला का माध्यम अपनाया होगा। कदाचित् उस समय की लीलाओ का मच आज की तरह सुगठित न होकर अनगढ अधिक होगा। इस अनगढत्व का परिष्कार तुलसी के 'मानस' से किया जाना सम्भवत विचारणीय है। तुलसी के समय या उनके आगे-पीछे प्रयोग की दृष्टि से राम-सबधी नाटक मच के लिये लिखे गये हो तो आश्चर्य नहीं। लोकमच की सम्पत्ति होने के कारण उनका आज प्राप्त न होना आश्चर्य का विषय नहीं।

१८वी और १९वी शताब्दी की लीलाओ के आँखो देखे वर्णन उपलब्ध है, जिनसे पता चलता है कि रामलीला उत्तर भारत के बाहर भी ठेठ दक्षिण के छोर तक प्रचलित थी। इन दिनो की खोज ने उसके सुदूर देशो तक में प्राप्त होने के प्रमाण उपलब्ध करा दिये है। किसी न किसी रूप में प्राय सभी पडोसी देश राम को उनके देश का पावन पुरुष समझते है। बर्मा में कवि यूतो लिखित 'रामयागन' (रामायण) यद्यपि मच की रचना नहीं है, तो भी लोगो में रामलीला 'धामर्व्वे' नामक नाट्य के रूप में प्रचलित है। स्याम में कठपुतलियो द्वारा रामकथा वर्णित की जाती है। रामलीला भी लोगो में प्रख्यात है। बाली द्वीप के लोक-नृत्यो में रामकथा की घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। कम्बोडिया के 'रैयामकेर' अथवा स्याम के 'रामकोन' ग्रन्थो के अतिरिक्त राम के जीवन सबधी घटनाएँ दोनो देशो के प्राचीन मन्दिरो में उत्कीर्ण पायी जाती हैं। यद्यपि प्रदर्शित करने में लोक प्रचलित रूढ परम्पराओ का खुल कर आश्रय लिया जाता है, तथापि रामायण की मूलकथा में विशेष परिवर्तन नही होता। सुदूर अमेरिका में भी यात्रियो ने राम-रावण युद्ध के प्रदर्शन देखे है।

मध्यकाल की परिस्थितियो में, मुख्यत उत्तर और मध्यवर्ती भारत में रासलीला और रामलीला को पनपने का खब अवसर मिला। रास में कृष्ण-चरित्र के साथ संगीत के उपयोग एव माधुर्यमयी शृगार चेष्टाओ के लिये पर्याप्त छूट रही है। अतएव उन दिनो रामलीला की अपेक्षा रासलीला सबधी नाट्य रचनाएँ अधिक हुई। पूर्व में राज-दरबारी नाट्य-कला जो 'कीर्तनिया' और 'अकिया' के नाम से नेपाल, मिथिला और असम में पनपी, कृष्ण-चरित्र पर ही अवलम्बित थी। रामलीला में राम के उदात्त चरित्र की रक्षा करने के लिये मच सबधी गतिविधियो में मर्यादा अपेक्षित रही है। पुरुषोत्तम राम के व्यक्तित्व की झाँकी, रास के राधा और कृष्ण की लीलाओ के ठीक विपरीत है। रामलीला में इसीलिये शृगार को पनपने का अवसर नहीं मिला। राम के प्रति लोगो में आध्यात्मिक श्रद्धा है। कृष्ण उनकी तुलना में शृगार के आलम्बन है। आदिम प्रवृत्तियो की जो तुष्टि राम में होती है, वह रामलीला में सभव नही। आज भी नेपाल और मिथिला के 'कीर्तनिया' कृष्ण-कथा पर आधारित है। वहाँ कदाचित् ही पिछली शताब्दियो में लिखे गये राम-सबधी नाटक मिलें। हिन्दी में, १९वी शताब्दी में

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से कुछ अच्छे नाटक लिखे गये जिनमें 'सीता-स्वयवर' (देवकीनन्दन त्रिपाठी), 'रामलीला-विहार' (मधुकर), तथा 'रामलीला' (दामोदर शास्त्री) मुख्य हैं। भारतेन्दु के पश्चात् रामलीला को सुसस्कृत बनाने के लिये माधव शुक्ल एव उनके साथियों ने १८९८ ई० में 'श्री रामलीला नाटक मडली' की स्थापना की थी, पर वह नही चली। 'ख्याल' और 'माच' की धज पर लिखी गई 'रामलीला' बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में मिलती है। मालवा में 'रामलीला माच' की किसी समय बडी धूम रही। आज भी कभी-कभी माच की शैली में यह लीला अभिनीत की जाती है।

रामलीला का रास की भाँति अपना स्वतन्त्र विकास हुआ। बहुत सभव है दोनो की नाटय मडलियो में प्रतिस्पर्द्धा भी रही हो। रामलीला में 'मानस-पाठ' की परम्परा ही उसकी उत्कृष्टता की द्योतक है। उसके द्वारा कथा-सूत्र जुडते जाते है और तदनुसार अभिनय चलता रहता है। रिजले ने ऐसी लीलाओ को देख कर जो वर्णन किया है, उससे पता चलता है कि (१) नृत्य और गीत के साथ कथा का विकास, (२) पद्यात्मक सवाद, (३) खुला मच (४) ग्रामीण अलकरण एव रग लेपन, (५) मच पर स्त्रियो का प्रवेश निषिद्ध और (६) गतिमय अभिनय—लोकधर्मी नाट्यो की प्रमुख विशेषताएँ है। रामलीला में नाटकीय गति युद्धादि अवसरो पर ही दीख पडती है, अन्यथा शेष अभिनय में शान्त एव गम्भीर वातावरण बना रहता है।

वर्षों व्यतीत हो गये। वही राम, वही सीता, वही लक्ष्मण, वही भरत, और वही रावण लोकमानस में बसे हुए हैं। आदिकवि वाल्मीकि ने राम-कथा के प्रचार का जो सकेत—

"यावत् स्यास्यन्ति गिरय. सरितश्च महीतले।
तावद्रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥"

में किया था, वह आज सत्य सिद्ध हो रहा है।

रामलीला प्रस्तुत करने की कुछ उल्लेखनीय शैलियाँ हैं। दक्षिण भारत में 'कथकली नृत्य' की कतिपय भाव-भगिमाओ का आधार रामकथा है। १७वी शताब्दी में केरव वर्मा और रामब्रह्मा ने इस शैली में रामकथा को प्रथम बार अभिनीत किया था। आगे चल कर १८वी शताब्दी में राजा रामनाथम् ने रामायण की कुछ मुख्य घटनाओ को लेकर कथकली शैली की कुछ भाव-भगिमाओं का परिष्कार किया। कथकली नृत्य प्राय खुले मच पर होते हैं, इसलिये लोक-जीवन से सबधित हैं। नर्तक के प्रवेश करते ही नदीपाठ होता है। तत्पश्चात् कथा आरम्भ होती है। मच पर नर्तक आगिक अभिनय द्वारा उसे रूप प्रदान करता जाता है। स्थानीय विशेषताएँ मलयाली गीतो के माध्यम से उभरती जाती हैं। यह शैली दक्षिण भारत तक ही सीमित है।

उत्तर भारत में दृश्य और श्रव्य दोनो ही काव्यो का रस रामलीला में है। मच के एक ओर बैठ कर वाचक रामायण से पाठ करता है। पाठ करते हुए जहाँ अभिनय सभव हो वहाँ अभिनेता अपने हाव-भाव से कथा को दृश्यमय करता है। एक और प्रकार इससे मिलता हुआ है। पाठक द्वारा पढे हुए अश को पात्र मच पर अपनी भाषा में सवादात्मक रूप में बोलते हुए अभिनय करते है।

रामलीला का यह क्रम आश्विन शुक्ल प्रतिपदा मे आरम्भ होता है। जनता ऐसी लीलाओ में उत्साहपूर्वक भाग लेती है। किसी भी पात्र की कमी हुई नही कि उसके स्थान पर कई स्वयसेवक तुरन्त उपस्थित हो जाते है।

दिल्ली में रामलीला की बडी धूम रहती है। लगभग सन् १९२० के दिल्ली में केवल एक ही रामलीला होती थी। बाद में सख्या बढने लगी। कहा जाता है कि बहादुरशाह के

समय महन्त राघोदास ने दिल्ली में इस उत्सव का आरम्भ किया था। सन् १९३८ में रामलीला के संचालनार्थ रामलीला-समिति को शासन द्वारा मान्यता प्राप्त हुई। तब से यह उत्सव सुव्यवस्थित रूप से आयोजित होता आ रहा है। राघोदास की परम्परा में आज जो महन्त हैं, वही रामलीला के संचालक हैं। [परिशिष्ट में इस महन्त परम्परा का ब्यौरा दिया गया है।]

अयोध्या में अनोखा दृश्य देखने को मिलता है। वहाँ आश्विन कृष्ण नवमी से आरम्भ होकर रामलीला के विविध प्रसंग १९ दिन में पूरे होते हैं। लंका-दहन की आयोजना में बड़ा परिश्रम किया जाता है। साठ-सत्तर फुट ऊँचा रावण का महल बनाया जाता है। उस पर हनुमान रस्सी के सहारे उड़ कर अग्निदाह करते हैं। आगरा में आश्विन कृष्ण प्रतिपदा से रामलीला शुरू होती है। जब राम को वनवास दिया जाता है, तो नगरवासी सब को छोड़ कर राम को यमुना के पार पहुँचाते हैं। यहाँ उपयुक्त स्थानों पर घटनाओं का क्रम से आयोजन किया जाता है। मथुरा में आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से कई रामलीला मण्डलियाँ उत्सव आरम्भ कर देती हैं। लखनऊ में तो होड़-सी लग जाती है। कूर्माचल में विजयादशमी के अवसर पर रामलीला का प्रदर्शन होता है। साधारण संवादों के अतिरिक्त देशी राग-रागनियों में वाल्मीकि और तुलसी की रामायण के अंश गाये जाते हैं। नेपाली और तिब्बती रामायण के पाठ अधिक निखरे हुए होते हैं। अभिनय भी उसके लौकिक प्रभाव को उठाने में योग प्रदान करता है।

रामलीला में वेष-भूषा और रंग-सज्जा के लिये विशेष परिश्रम नहीं किया जाता। काजल, चन्दन, सुरमा, गेरू, राख, खड़िया, पेवड़ी, रोली, मुर्दा सिंगी, भोडर, बने हुए चेहरे-मोहरे, पन्नियों से चमकाये हुए मुकुट, लकड़ी के अस्त्र-शस्त्र, दाढ़ी-मूँछें, गेरुआ कपड़े, कमण्डल, हनुमानजी और बन्दरों के लिये लचलची पूँछें, राम-लक्ष्मण के लिये जरी के अंगे, धनुष-बाण आदि सामग्री पर्याप्त है। मजा यह कि रामलीला में बहुत कुछ अस्वाभाविकता होते हुए भी लोग उसे बड़े उत्साह से देखते हैं। ऐसा लगता है कि यह परम्परागत लोक-नाट्य लोगों की धार्मिक भावनाओं को परितोष तो देता ही है, पर उनके लिये मनोरंजन का आवश्यक साधन भी हो गया है। यद्यपि कई स्थानों पर रामलीला स्वांग मात्र रह गई है, तथापि उसके परिष्कार और प्रबन्ध की सुनि-योजित योजना को ध्यान में रखते हुए देशव्यापित प्रयत्न किये जाने पर इस माध्यम को राष्ट्रीय मंच का स्वरूप सहज ही उपलब्ध कराया जा सकता है। रामलीला का प्रभाव देश में कतिपय नृत्य-मण्डलियों पर पड़ा है। नृत्य-नाट्य रूप में जो प्रयोग इन मण्डलियों ने किये हैं, उनसे रामलीला की शैली में एक दृष्टि से अभिवृद्धि ही हुई है। जहाँ तक उनके लोकपरक रूप का प्रश्न है, उनमें मंचीय आडम्बरों का लोप अवश्य है। सहज अभिनय होने पर ही कोई भी कथा जन-जीवन के निकट अपना स्थान बना सकती है। रामलीला के संबंध में इस दृष्टि से विचार किया जाना अपेक्षित है।

'माच' और 'ख्याल'

'माच' शब्द मच[1] का मालवी तद्भव रूप है। मालवी में यह शब्द मच बाँधने और उस पर अभिनीत किये जानेवाले 'ख्याल' (खेल) दोनो ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। वस्तुत 'माच' मच पर अभिनीत किया जानेवाला मालवा के पठार और निकटवर्ती क्षेत्र का लोकनाट्य है। माच की व्याख्या के पूर्व माच-मच के विषय में सक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करना यहाँ भूमिका की दृष्टि से सगत होगा।

माच-नाट्य आरम्भ करने के कुछ सप्ताह पूर्व उचित मुहूर्त में ग्राम अथवा नगर की बस्ती के किसी खुले एव निश्चित स्थान में माच-मच का 'खम्ब' (स्तम्ब) स्थापित किया जाता है। उस समय माच-नाट्य के अभिनेता और कार्यकर्त्ता एकत्र हो कर अपने गुरु के कर-कमलो से खम्ब की पूजा करवाते हैं। आम्र के पत्र, अमर वल्लरी, धनिया, गुड और लाल-लाल वस्त्र पूजन-सामग्री में प्रयुक्त किये जाते हैं तथा पूजन की बेला में ढोलक का सतत रूप से बजना अनिवार्य समझा जाता है। माच-मच के निर्माण के लिये यह औपचारिक आयोजन मागलिक माना जाता है।

मच प्राय दृढ खम्बो पर ५ फुट से लगा कर १० फुट ऊँचा बनाया जाता है। ऊपर चार बल्लियों के सहारे सफेद चादर तान दी जाती है और उसमें रग-बिरगे कागजो के फूल गोंद से चिपकाये जाते हैं। मच के चारो ओर रगीन पन्नियाँ लाल-पीले वस्त्र के टुकडे, आम के पत्तो की झालरें या ऋतु के फूलों की बन्दनवारें भी टाँगी जाती है। मच की लम्बाई और चौडाई का प्रमाण आवश्यकतानुसार घटाया-बढाया जा सकता है। इस प्रकार सज्जित मच यद्यपि चारो ओर से खुला होता है, किन्तु उसकी सुरक्षा के हेतु अन्य व्यवस्था की जाती है, जो माच की परम्परा में अपना वैशिष्ट्य रखती है।

मच-व्यवस्था के अनुशासनार्थ माच-मच के दोनो ओर दो-दो पाट और सामने वेदी के चार खम्बे गाडे जाते है। चार खम्ब के निकट १६ युवक, १ जमादार, १ थानेदार, और १ बादशाह बैठते है। यह योजना माच के सौन्दर्य में उत्कर्ष प्रदान करती है। पृष्ठ के पाट 'बारह घाट के पाट' कहलाते हैं। जहाँ माच-मण्डली के कुछ विश्वास-पात्र कार्यकर्त्ता और अभिनेता माच-नाट्य के अभिनय के अवसर पर उपस्थित रहते हैं। इसी तरह 'बारह घाट के पाट' के पास एक 'टेक का पाट' भी अवश्य रहता है, जिस पर अभि नेताओ के बोल झेलने के लिये कुछ व्यक्ति बैठते हैं और सामूहिक स्वर में 'बोल' और 'टेक' दुहराते हैं जिससे गाते हुए अभिनेता को कुछ विश्राम कर अवसर मिल जाता है।

---

१. मालवी में मंच शब्द के तीन और तद्भव रूप विद्यमान हैं, पर उनके अर्थ भिन्न हैं, यथा—'मचान' (भवन निर्माण के हेतु सहारे के लिये बांधा जानेवाला तख्ता एव खेत में रखवाली के लिये चार बल्लियो पर आधारित 'डागला'), 'माचा' (बैठने की बड़ी खटिया) और 'माची' (बैठने की छोटी खटोली)।

मच के एक ओर कुछ अनुभवी वृद्धगण बैठते हैं। यदि बोल में कोई भूल हुई अथवा ढोलक की थाप में त्रुटि हुई या अभिनेता के पद-सचालन या हाव-भाव में कही असम्बद्धता आई तो वे सकेतो द्वारा सचेत करते हैं। माच के प्रणेता गुरु का आसन भी माच-मच के एक ओर होता है, जिस पर कोई बैठता नही। अत यह व्यवस्था एक प्रकार से निर्देशन के रूप में है।

प्रकाश के लिये मशालची अपनी मशालो को मच के तीन खम्भो पर लगा कर अपना उत्तरदायित्व निभाता है। तनिक भी मशाल में प्रकाश का अभाव हुआ नही कि वह उठ कर तेल में जलते हुए वलवट्टे भिगो देता है। आधुनिक युग में जहाँ विद्युत अथवा गैस-बत्ती (पेट्रोमेक्स) उपलब्ध है, वहाँ मशालो की आवश्यकता नही पडती। माच-मच की इस व्यवस्था में रगशाला का कोई स्थान नही, क्योंकि सज्जित पात्र मच के निकट किसी स्थान में अपने वस्त्रादि परिवर्तित कर आ जाते हैं। मच चारो ओर से खुला होने के कारण नेपथ्य नही होता। दर्शकगण कही से भी बैठ कर सम्पूर्ण गतिविधि देख सकते हैं, तो भी (देखिये माच-मच का रेखाचित्र) सुविधा के लिये दर्शको को तीन ओर ही बैठने दिया जाता है।
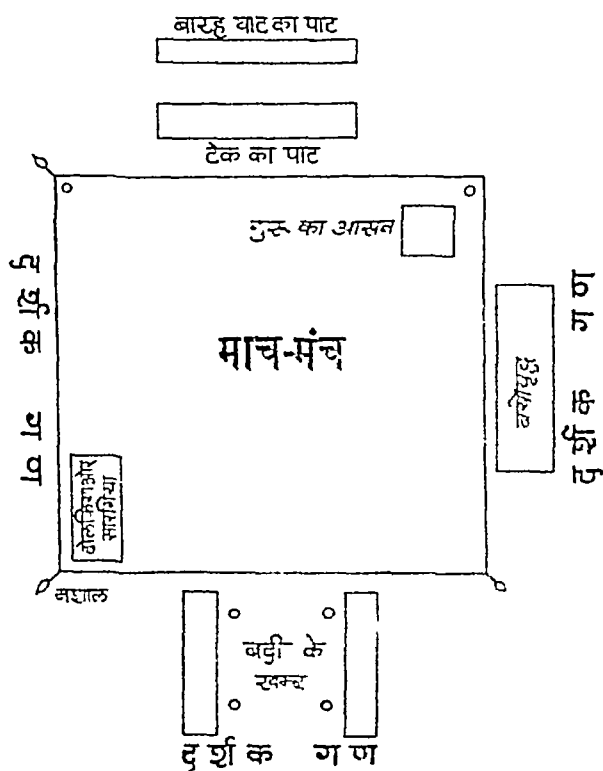
भरत के नाट्य-मण्डप के निर्माण का विधान अपने 'नाट्य-शास्त्र' (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) के द्वितीय अध्याय में विस्तार से दिया है। उनमें विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र—तीन प्रकार के मण्डपों का उल्लेख किया गया है। प्रथम देवताओं के लिये और शेष दो प्रकार मनुष्यों के लिये हैं। अन्तिम 'त्र्यस्र' जनसाधारण का मण्डप है। यद्यपि 'चतुरस्र' ही भरत की दृष्टि में उत्तम है, तथापि वर्गभेदानुसार मण्डप के

इन प्रकारों का उल्लेख अनिवार्य था। माच में मच-निर्माण के पूर्व जिस खम्ब-स्थापन का महत्त्व है वह भरत के नाटच-शास्त्र में भी उल्लिखित है। शुभ नक्षत्र में नाट्य-मच की भूमि का नाप-जोख और दर्शकों, रगमच, रगपीठ, रगशीर्ष और नेपथ्यगृह के लिये उसके विभाजन के पश्चात् कार्य आरम्भ करने हेतु स्तम्भ की स्थापना किया जाना अनुष्ठानिक विधान कहा गया है। स्तम्भ स्थापना की बेला में स्तम्भ तो सबोधित करते हुए प्रार्थना का उल्लेख है—

यथाऽचलो गिरि मेरु. हिमवाश्च महाबलः।
जयावही नरेन्द्रस्य तथात्वमचलो भव ॥

(हे स्तम्भ! तुम मेरु पर्वत और महाबली हिमालय की भाँति अचल हो। तुम विजयी राजा के समान अचल हो।')

भरत के विधान का विस्तार स्थायी रगमच के लिये है। अतएव उसका विस्तृत उल्लेख लोक-नाटच मच के सदर्भ में अनुपयुक्त है। इसमें मत वैभिन्य नही हो सकता कि भरत ने जिन विधानों का उल्लेख किया है, उनमें से कतिपय विधान आज भी जन-साधारण में विद्यमान हैं। माच की 'खम्ब' स्थापना इस बात की द्योतक है। लोक-नाटचो में इन विधानो का परिलक्षित होना इस बात का भी सूचक है कि प्राचीन सस्कृत नाटको ने लोक-नाटचों से अनेक अशों में प्रवृत्तियों, लक्षणो और विधानो का आदान-प्रदान किया है।

डॉ० कीथ ने सस्कृत नाटको के साथ लोक-नाटको की अवस्थिति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "वे (सस्कृत नाटक) जन भाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा को समझना साधारण जनता के लिये प्राय असम्भव था।" इसीलिये साधारण समाज के अपने मनोरजन के साधन उच्च वर्ग के साधनो से भिन्न ही रहे। यह भी पर्याप्त रूप से ग्राह्य है कि ऐसे लोकधर्मी साधन हर युग में, हर प्रकार की जनता में विद्यमान रहे हैं। इन्ही साधनों की सम्पदा में उत्कृष्ट कला और साहित्य के बीच निहित हैं। युगो के पारस्परिक सबध अवश्य एक-दूसरे के सास्कृतिक स्तरों को स्पर्श करते है। पर्याप्त विश्वास के साथ डब्ल्यु० बी० रट्रस ने कहा है—"वह धरती ही है जिसमें सभी उच्च कलाओं की जडें समाहित हैं।"[1] लोक-नाटच 'पृथ्वीपुत्र' की भावनाओ की समुचित अभिव्यक्ति करते है। लोक नाटको की समान विशेषताओ से भिन्न कुछ अशों में भौगोलिक स्थिति, सोचने और रहन-सहन के समान ढग एव स्थानीय अथवा प्रान्तगत सस्कार प्रान्त की सस्कृति के द्योतक होते है[2] इस दृष्टि से माच में लोक-नाटको के सभी लक्षण विद्यमान होते हुए भी उसकी अपनी विशेषताएँ हैं। उसमें स्थायीय, विश्वास प्रथाएँ, रीति-रिवाज, रूढ-मान्यताएँ, मुहावरे, जीवन-दर्शन आदि सभी तत्त्व मालवा की धरती की सोंधी महक में पूरित हैं।

लोक-नाटच से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है, जिसका सबध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न, सर्व साधारण के जीवन से हो और जो परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के

---

१ "इट इज दी सायल व्हेयर आल ग्रेट आर्ट इज रूटेड।"—अर्ली पोयम्स एण्ड स्टोरीज—लन्दन, १९२५।

२ "फ्राम कामन फिजियाग्राफी, फीचरस् एण्ड कामन वेज्ञ ऑफ लिविग एण्ड थिंकिंग इज्ञ डीराइव्हड दी पैटर्नस् आफ कल्चर पीक्यूलर टू ए रिजन।"—फेलिक्सपर फ्राम नेटिव्ह रूटस्—पृष्ठ १७, १९४८।

जन-समुदाय के मनोरंजन का साधन रहा हो। माच को लोक-नाट्य कहना सर्वथा उचित है। 'ग्राम संगीत नाट्य' कहने से उसका क्षेत्र ग्राम तक ही सीमित हो जाता है। जब कि उपलब्ध माचो की रचना नगर विशेष में हुई है और जिनका कालान्तर में नगरो और ग्रामो में समान रूप से प्रसार हुआ है, तब उन्हें ग्राम की सीमा से आबद्ध करना उपयुक्त प्रतीत नही होता।

लोक-नाट्यो की विशेषताओ को ध्यान में रख कर 'माच' की व्याख्या की जावे तो वह सर्वथा लोक-नाट्य की कोटि में स्थान प्राप्त करता है। लोकगीतो की हृदयस्पर्शी शब्द व्यंजना, मंत्रीय वैशिष्ट्य, रूढ अभिनयत्व, पद्यात्मक संवाद-योजना आदि सभी तत्त्वो का समावेश इन माचो में उपलब्ध है। मिथिला के 'कीर्तनिया,' राजस्थान के 'ख्याल', महाराष्ट्र के 'ललित', उत्तर प्रदेश की 'नौटकी', गुजरात के 'भवाई' और व्रज के 'रास' की भाँति संगीत इसका प्राण है। मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन के समय उत्कृष्ट रंगमंच के अभाव में लोकमंच को ही विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख सन्तो ने लोक-नाट्य-शैली को अपना कर गीति-नाट्य की परम्परा को प्रश्रय दिया। माच पर मध्यकाल के समस्त लक्षणो का प्रभाव पडा है। यद्यपि माच का विकास बहुत बाद में हुआ तथापि वह अपने अंक में इन प्राचीन प्रवृत्तियो को ले कर ही प्रकट हुआ था।

अपभ्रंश भाषा के रास-ग्रन्थो की खोज ने भारतीय नाट्य परम्परा के अध्ययनार्थ नया मार्ग प्रस्तुत किया है। समस्त ग्रन्थो के स्थूल अध्ययन से विद्वानो ने यही प्रकट किया है कि 'लोक' को गद्य की अपेक्षा पद्य का माध्यम अधिक अपेक्षित एवं प्रिय रहा। इस दृष्टि से माच में पद्य का प्रयोग आकस्मिक नहीं। लोक-नाटको के अतिरिक्त उत्कृष्ट साहित्यिक नाटको की यह परम्परा १८वी शताब्दी तक आते-आते लुप्त हो चली थी। यद्यपि भारतेन्दु जी ने वैष्णवो की गीतिकाव्यात्मक नाट्य शैली की विशेषताओ को अपना कर अंको और दृश्यो के मध्य में गीतों को स्थान दिया है,[1] तथापि यह प्रवृत्ति आगे नहीं बढ पाई। भारतेन्दुजी के पूर्व तो विश्वनाथसिंह जू लिखित 'आनन्द रघुनन्दन' (रचना-काल लगभग १७०० ई०), जोधपुर नरेश जसवन्त सिंह द्वारा संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का हिन्दी अनुवाद (१६४३ ई० के लगभग), गोपालचन्द्र रचित 'नहुष' (१८४१ ई०), आदि में स्पष्ट ही गीति शैली का समावेश है। छन्दो के प्रयोग की इस प्रवृत्ति के लुप्त हो जाने से हिन्दी नाटको में नीरसता व्यापित होने का पूर्ण अवसर सहज ही उपस्थित हुआ। एक ओर यह स्थिति थी और दूसरी ओर सर्व साधारण जनता में लोक-संगीत के सहारे लोकप्रसिद्ध पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानको का मंच पर अभिनय होना रहा। अत लोक-नाट्य हर युग में अपना कार्य करते रहे। माच इसी स्वाभाविक लोक-मंच परम्परा की एक शाखा है।

'ढारा-ढारी' के खेल

माच का क्रम-गत इतिहास पिछली एक शताब्दी पूर्व से आरम्भ होता है। कहते हैं, इसके पूर्व मालवा में 'ढारा-ढारी' के खेल प्रचलित थे। 'ढारा-ढारी' से तात्पर्य उन वीरो से है, जिनका लोक-जीवन से बलवान-समर्थ सहायक के रूप में संबंध

१ देखिये 'चन्द्रावली' (१८७८), 'विद्यासुन्दर' (१८८८), विषस्य विषमौषधम् (१८७६), नीलदेवी (१८८१)।

है। राजस्थायी में 'धाडी' शब्द का सामान्य अर्थ डाकू है। यो धाडी और डाकू में वहुत अन्तर है। 'धाडी' अन्याय के विरुद्ध लड कर शोषित की रक्षा करनेवाले हुआ करते हैं। वे धनवालो को डाकू की भाँति लूटते अवश्य हैं, पर उस लूट की सम्पत्ति से निराश्रितो और दलितो की सहायता करते हैं। डाकू का यह आदर्श नही होता। यही कारण है कि 'धाडी' लोक-जीवन में वीर-पूजा की भावना से प्रतिष्ठित है। कई धाडियो के जीवन-चरित मच के विषय हैं। सम्भवत इसी 'धाडी' से मालवी का 'धाडा' शब्द बना है जिसका अर्थ है डाका अथवा लूट-पाट के लिये किया गया आक्रमण। आदर्श वीरो के अभिनय की प्रवृत्ति सदैव ही रही है। मालवा में इसी 'धाडी' से मिलता हुआ 'ढारा-ढारी' का अभिनय वस्तुत चरित प्रधान नाटय का द्योतक रहा होगा। उपलब्ध जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है कि इस नाट्य-शैली में 'धाडी' चरित्रो के साथ-साथ धीरे-धीरे पौराणिक चरित्रो और कथानको के समावेश की प्रवृत्ति बढी, जो आगे चल कर माच के लिये भूमिका निर्मित करने में सहायक सिद्ध हुई प्रतीत होती है।

धाडी राजस्थान की एक जाति भी है, जिसका कार्य मन्दिरो में स्वाग करना अथवा गीत गाना है। कदाचित् उनके द्वारा प्रचलित खेलों को ही 'ढारा-ढारी' के खेल कहा जाता हो। उपयुक्त सामग्री के अभाव में इस परम्परा के सबध में अधिक नही कह जा सकता, फिर भी माच की पृष्ठभूमि 'ढारा-ढारी' के खेलो का किवदतियो में प्राय उल्लेख मिलता है।

जान मालकम के संस्मरण

लगभग डेढ शताब्दी पूर्व मालवा के ग्रामो में कठपुतलियो के खेल दिखानेवाले एव चतुर घुमन्तू अभिनेताओ के आगमन का उल्लेख सर जान मालकम ने किया है।[1] मालकम ने किसी वालूवा नामक एक ब्राह्मण अभिनेता के सबध में लिखा है कि "वह असख्य यूरोपीय एव भारतीय दर्शको के सम्मुख (जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित थी) कई वार अपना अभिनय दिखा चुका था। यह अभिनय स्वय उन्ही के कैम्प में हुआ था। मालकम का कथन है कि "वालूवा नकल की कला में इग्लैण्ड के कतिपय माने हुए अभिनेताओ से किसी तरह कम नही था।"[2] इसी प्रकार उस समय के लोक-नाट्यो का उल्लेख करते हुए वताया है कि "उन खेलो के विषय प्राय पौराणिक कथानको पर आधारित होते थे। कथानको का स्तर तत्कालीन नरेशों और अधिकारियों के आदर्शों के अनुसार होता। हनुमान या 'दू-ददूदाले' (वडे पेट वाले) गणेश मच पर आते, हिन्दु देवताओ और अवतारो के स्वाग किये जाते और राजा, मत्री तथा उनके दरवारी प्राय परिहास के विषय वनाये जाते।[3] ग्रामीण जनता को उन खेलो में विशेष आनन्द प्राप्त होता, जिनमें उनके यथार्थ जीवन की झाँकी होती। जिला अधिकारियो का घूस लेने का प्रकरण, पटेल का ग्रामीणो पर क्रोध करना और अधिकारियो की चापलूसी और उसे मच के एक ओर घूस लेते हुए अथवा देते हुए वताना आदि परिहासो को देखने के लिये मालवी स्त्री-पुरुष, माच के दर्शको की भाँति, उन दिनों रात-रात वैठे रहा करते थे।"[4]

---

१. मेमायरस् ऑफ सेन्ट्रल इण्डिया--भाग २, अध्याय / १४, पृष्ठ १९६।

२ वही--"ही वाज हार्डली इनफीरियर इन टैलेण्ट (पर्टीक्युलर इन दी आर्ट आफ मिमिकरी) टू सम ऑफ दी मोस्ट सेलिवरेटेड परफार्मर्स इन इग्लैण्ड।"

३ वही।

४ वही—पृष्ठ १९७।

मालकम के संस्मरण से यह स्पष्ट होता है कि १९ वी शताब्दी के प्रारम्भ में मालवा में मनोरंजन के साधन ऐसे थे जिनका आधार ग्रहण कर निश्चय ही माच का प्रणयन किया गया प्रतीत होता है। पौराणिक कथानको के साथ सामाजिक विषयो में लोक चेतना का रूप स्पष्ट लक्षित होता है। इन्ही साधनो के स्थायी तत्व अपनाकर माच को अपना प्रभुत्व स्थापना का अवसर मिला।

ख्याल और माच

राजस्थान में भी माच 'ख्याल' के रूप में प्रचलित है। वस्तुत ख्याल और माच भिन्न होकर भी तात्विक दृष्टि से एक है। माच के आदि प्रणेता बालमुकुन्द गुरु (जिसके सबध में आगे विस्तार से उल्लेख किया जा रहा है) ने अपनी समस्त माच रचनाओ को 'ख्याल' कहा है। उनके अनुसार माच ख्याल है जब कि राजस्थान के ख्याल माच नही है। बालमुकुन्द गुरु ने अपनी माच रचनाओ के शीर्षक में ही माच और ख्याल के भेद को तिरोहित कर दिया है। "ख्याल माच का—ढोलामारुणी", 'असली ख्याल माच का—सेठ-सेठानी', या 'ख्याल माच का—नागजी दूदजी' जैसे शीर्षको से स्पष्ट है कि गुरु की दृष्टि में ख्याल और माच में भेद नही था।

'ख्याल' लोकभाषा का परम्परागत शब्द है।[1] अगरचन्द नाहटा ने श्री उदयशकर शास्त्री के एक लेख का उद्धरण दिया है—"ऐसा कहा जाता है कि १८वी शती के प्रारम्भ के आस-पास ही आगरे के इर्द-गिर्द एक नई कविता शैली प्रचलित हो चली थी, आगे चल कर जिसका नाम ख्याल पड़ा। ख्याल निश्चित ही उर्दू और फारसी के मसाले से तैयार चीज है। उनको नये-नये कथानको में बांधना सबका काम नही होता। इन ख्यालियो के कई दल थे जिनमें सभी प्रकार के लोग थे और सभी प्रकार की बदिशें बांधने वालो के गोल कभी-कभी होड़ भी लगाने लगते थे"।[2] (देशबन्धु, वर्ष २ अक ७)।

इस उद्धरण से ख्याल का प्रारभ १८वी शताब्दी से होना प्रकट होता है, किन्तु इस काल में रचित 'ख्याल' नामक काव्य भेद का कोई उदाहरण उपलब्ध नही होता। कदाचित वे मौलिक रहे होगे।[3] राजस्थानी में प्रचलित ख्यालो का उल्लेख करते हुए नाहटाजी उनके प्रचार का काल १९ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होना स्वीकार करते है। प्रमाण स्वरूप एच० एस० केलाग ने 'ग्रामर ऑफ दी हिन्दी लैंग्वेज' पुस्तक में 'डूगजी जवारजी' ख्याल के कुछ उद्धरण दिये है। नाहटाजी का अनुमान है कि 'स्काच प्रेस बिटेरियन मिशन' ब्यावर से प्रकाशित एव पादरी रोबसन द्वारा सम्पादित उक्त मारवाडी ख्याल की पुस्तक ही सर्वप्रथम है।[4] आजकल तो ख्यालो की पुस्तकें एक बडी तादाद में उपलब्ध है। बालमुकुन्द गुरु ने सवत् १९०१ के पश्चात् माच रचना करना

---

१. लोक-कला, भाग १, अंक २, पृष्ठ १०५।

२. वही „ „ ख्यालो की पूर्व परम्परा, पृष्ठ ९४।

३. मालवा में हास्यात्मक (कथा-सूत्र-युक्त) गीत 'ख्याली गीत' कहलाते है। स्त्रियाँ इन गीतों को मनोरंजन के हेतु गाती है। सम्भवत इन्हीं ख्यालो से इस शैली का प्रचार लोकगीतो में हुआ हो। ख्याली गीतो में किसी घटना का परिहासात्मक रूप या परिहासपूर्ण संवादो की योजना रहती है। इस प्रवृत्ति से ख्याल रचनाओ का मनोरंजनात्मक उद्देश्य लक्षित होता है, सभवत बाद में परिवर्तित हो गया हो।

४. लोक-कला, भाग १, अक २, पृष्ठ ९५।

आरम्भ किया था। कदाचित् सवत् १६०१ के पूर्व ख्यालो से एक बडा जनसमूह प्रभावित हो चुका होगा। यही कारण है कि गुरुजी ने राजस्थान, मथुरा, आगरा, कलकत्ता, बम्बई, आदि स्थानो की जनता को जब ख्यालो के रग में रगा देखा, तो उसके ढग को अपनी स्थानीय परम्परा के सयोग से अपना कर माच का उन्नयन किया। ख्याल यद्यपि मिश्रित ढग की रचना है तो भी उसके पृष्ठ में रास, यात्रा और भवाई का प्रभाव निस्सदेह रहा होगा। यो स्थूल रूप में ख्याल और माच में वाह्य भेद नही है। तथापि उसके अन्तर को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित अवान्तर भेद दृष्टव्य है।

आरभ की भूमिका और सामान लक्षण

(अ) ख्याल

१ सभी पात्र मच से अलग किसी अन्य स्थान पर गणेश एवं सरस्वती की समवेत स्वर में स्तुति करते है।

२ मच की सफाई के लिये भगी (अभिनेता) का आगमन होता है जो अपना परिचय गा कर स्वय ही देता है।

३ भिश्ती आ कर जल से मच पर छिडकाव करता है, वह भी गीतबद्ध बोल कहता है।

४ हलकारा आ कर प्रधान नायक के आगमन की सूचना देता है। वह सदैव 'गड बगाले' से आता है। (आया हलकारा गोपी चन्द का गड बगाले से—'राजा गोपीचन्द का ख्याल नन्दराम नीमच वाला कृत'।) हलकारा ही ख्यालकार का परिचय देता है। इतनी तैयारी के बाद ख्याल का आरम्भ होता है।

माच

१ माच-मच पर ही समस्त अभिनेताओ और कार्यकर्त्ताओ द्वारा गणेश, भेरूजी एव माचकार की वन्दना की जाती है। साथ ही नगर के प्रमुख देवताओ की समवेत स्वर में स्तुति की जानी आवश्यक है।

२ माच में भगी नही आता।

३ भिश्ती आ कर मच पर अभिनयात्मक ढग से छिडकाव करता है। वह सदैव भूपाली भिश्ती कहलाता है।[1]

"आया हूँ भूपाली भिश्ती। भूपाल सेर से चल कर आयो उज्जैन सेर देखूँगा वस्ती। आया हूँ।"[2]

"अरे भरवा लो पानी
छानी कर लायो रे समन्दर तीर से
सोना की म्हारी मसक बनी रे
कचन डोल मढ़ाया।

---

१ 'भूपाली भिश्ती' का अभिनय लगभग पौन घण्टे तक चलता है। इस बीच माच की अन्य व्यवस्था सपन्न कर ली जाती है। यो तो भिश्ती अपने माच के प्रतीक्षकों को अपने वोल के दो घूँट से सौन्दर्य का पान कराता है, पर माच के कतिपय दर्दियों का कहना है कि 'भूपाली'—पृथ्वी को पालनेवाला राजा इन्द्र है। उसी का यह प्रतिनिधि भिश्ती आ कर छिडकाव करता है, क्योकि जहाँ माच होता है, वहाँ देवताओ का आगमन सभव है।

२. गुरु वालमकुन्द कृत नागजी दूदजी, तीसरी आवृत्ति, स० १६८२, पृष्ठ ५।

म्हारी मसक का पानी जो पीले
वा घर कर दूं माया।"[1]

४ भिश्ती के बाद फर्रासिन आती है[†] जो गा कर माचकार गुरु की स्तुति करती है एव मच पर फर्श या जाजम बिछाने का अभिनय करती है। उसके बोल भी लगभग आधा घण्टे तक चलते हैं। वह अपनी व्यक्तिगत बात भी कहती है जिससे कि उसके विषय में दर्शकों की सहानुभूति बनी रहे —

"अजी म्हारा पियूजी गया परदेस, जाजम का बिछावाजी।
चदा सरीका पतिजी हमारा सूरज सरको तेज।
ननँद हमारी कडक बीजली चमके चारों देस।
हाथ लगे हिवडो कुमलावे, म्हारी बालक मेसजी।"[2]

५ इसके पश्चात् गणेश और देवी की वन्दना। देवी के पडे का आगमन और फिर स्वय देवी का आगमन और आशीर्वाद के बाद गुरु की जय के साथ माच का आरम्भ।

६. माच का आरम्भ अत्यन्त ही नाटकीय होता है। पूजन के पश्चात् प्रत्येक पात्र क्रमश मच पर आता है, उस समय 'चोपदार' उनका परिचय देता है।

मालवा के सीमावर्ती क्षेत्रों में माच का स्वरूप कुछ भिन्न हो गया है। उसमें माच आरम्भ करने के पूर्व सभी पात्र मच पर आ कर बैठ जाते हैं, तब किसी निकटवर्ती उच्च भूमि से एक व्यक्ति मगलाचरण, जिसे 'चन्द्राना'[3] कहते हैं, आरम्भ करता है और शेष सब उसे समवेत स्वर में दुहराते हैं।

इन माचो में कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। माच के प्रणयन-कर्ता अपने हाथो में माच की लिखी हुई बहियाँ लिये अभिनेता के पीछे चलते हैं। वे मच पर ही बही में से पक्तियाँ बोलते हैं और अभिनेता साज पर उन्हें दोहराते हैं। माच का यह स्वरूप अब लुप्त हो रहा है। इसलिये कुछ सीमित क्षेत्रो में इसका रूप दीख पड़ता है। मध्यवर्ती मालवा में उपरोक्त क्रम से ही माच किये जाते हैं।

(आ) १ उक्त भूमिका के पश्चात् दोनों में प्रधान नायक आ कर अपना आत्म-परिचय देता है। उसके पश्चात् क्रमश अन्य पात्र आते हैं जिनमें माच अथवा ख्याल की कथावस्तु खुलने लगती है।

२ दोनो ही सगीत प्रधान रचनाएँ हैं। सगीत की दृष्टि से ख्याल में लावनी, राग रतवा, विहाग, भाड (जगली टेर), काफी, सोरठ सारगी, जगलो, बरवो, असावरी, कलिगड़ा, भैरवी आदि रागो में 'टेर' (कथोपकथन) गायी जाती है। माच की धुनें 'रगत' कहलाती हैं जिनका आगे उल्लेख किया जायगा।

३ दोनो के कथोपकथन गीति प्रधान और सक्षिप्त होते हैं। राग-रागनियो से ही उन्हें विस्तार प्राप्त होता है।

---

१. गुरु बालमुकुन्द कृत नागजी दूदजी, तीसरी आवृत्ति, स० १९८२, पृष्ठ ५।
२ वही, " " "
†. राधाकिशन गुरु की परम्परा में मालन आ कर फूल बिछाती है।
३ मारवाड़ी गीतो की एक शैली भी 'चन्द्रायण' कहलाती है, जिसकी प्रमुख टेक--'इतरादे करतार फिर नही बोलणा।'

४ दोनो में अभिनय की अपेक्षा सवादो का महत्त्व प्रधान है।

५ अभिनेता अपने ढग के अभिनय के लिये स्वतत्र है। अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिये अभिनेता लोक मचीय 'गुरु' (भेद) रखते हैं। अभिनेता 'स्वरूप' कहलाते हैं। कही उन्हें 'स्वाग' और 'रूप' भी कहते हैं। प्राय सभी व्यक्ति साधारण समाज के होते हैं।

६ दोनो की कथावस्तु—पौराणिक, ऐतिहासिक और प्राय लौकिक एव अर्धऐतिहासिक होती है। अन्त सुखान्त होता है।

७ दोनो में नेपथ्य का अभाव है और दृश्य-परिवर्तन कल्पना और अन्य सकेतो से समझे जाते हैं।

८ दोनो मध्य रात्रि में आरम्भ हो कर सूरज की प्रथम किरण के साथ समाप्त होते हैं।

९ दोनो में सगीत के साथ सामूहिक और व्यक्ति नृत्य की परम्परा विद्यमान है। 'सम' की थाप पर एक झटके के साथ अभिनेता नाच की गति में प्रवेश करते हैं।

यह सम्भावना व्यक्त की गई है कि ख्याल का आरम्भ आगरा के निकट १८वी शताब्दी के आरम्भ में एक नई कविता शैली के रूप में हुआ है। किन्तु ख्याल का राजस्थान से विशेष सबध है। आजकल राजस्थानी में लिखे हुए अनेक ख्यालो की पुस्तकें देखने में आती हैं। सम्भवत राजस्थान में लोक-प्रचलित कथानको की विपुलता एव चारण और भाटो द्वारा उनके प्रचार, प्रश्रय तथा प्रोत्साहन से बाद में यह काव्यशली अभिव्यजना के हेतु अपना ली गई हो। राजस्थान में गायको की पेशेवर जातियो से इसको गति प्राप्त हुई होगी और फिर लोगो द्वारा अपनाये जाने से स्वाभाविक रूप से प्रचार में सहायता भी मिली हो। यह स्पष्ट है कि लोकरुचि को प्रभावित करने वाले साधन प्रान्त की सीमा लाघ जाते हैं। ख्याल भी माच की भाँति मालवा और निकटवर्ती प्रान्तो में खूब प्रसिद्ध हुए।

गुरु बालमुकुन्द की तरह ख्याल के क्षेत्र में नानूराम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। नानूराम शेखावटी के चिडावा का निवासी था। गुरु की भाँति वह स्वय मच पर उतरता और अपनी मडली को उचित निर्देशन दिया करता था। उसके बनाये हुए लगभग ५० ख्यालो का पता चला है।[1] नानू का समकालीन उजीरा तेली था, जिसने १० ख्याल बनाये।[2] अन्य ख्यालकारो में झालाराम 'निर्मल', भूधरमल मिसर, प्रेमसुख भोजक के नाम प्राय लिये जाते हैं। माच के प्रोत्साहन में ख्यालकारो की परम्परा का निश्चय ही हाथ रहा है। माच के लक्षणो से यह स्पष्ट होता है।

माच और रास

माच यद्यपि ख्याल के बहुत निकट है, किन्तु मध्यकालीन परम्पराओ से तनिक पीछे हटते ही रास की जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसका यथोचित अध्ययन हमारी

---

१ देखिये लोक कला (भाग १, अक १) में मनोहर शर्मा द्वारा प्रस्तुत सूची, पृ० ४४ अगरचन्द नाहटा की अक २ में प्रस्तुत सूची भी देखिये, पृ० ९६–१०४। (परिशिष्ट में उद्धृत)।

२ प्रेरणा, अक्टूबर १९५४ में श्री गोण्डाराम वर्मा का 'शेखावटी के नाटक, ख्याल'—शीर्षक लेख, पृ० ८०–८१।

लोक-नाट्य परम्परा की शृखला को दूर तक खीच ले जाता है। १४वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोक-मनोरजन के लिये रास, चर्मरी, फागु आदि शैली में गीति-नाट्य की रचना की जाती थी। इन नाट्यो का अभिनय उसी भाँति किया जाता था, जिस तरह कुछ हेर-फेर के साथ आज माच में देखा जाता है। यद्यपि माच की परम्परा उसके नाम के अनुसार इतनी पीछे नही जाती तथापि शैली साम्य की दृष्टि से माच उक्त परम्पराओं से हट कर स्वतत्र रूप में विकसित परम्परा भी तो नहीं कही जा सकती है। उसे तो लोकधर्मी गीति नाट्य शैली कहना ही उपयुक्त होगा। भरत ने नाटक को "क्रीडनीय कमिच्छामो दृश्य श्रव्य च यम्वदेत्" कहकर वही बात कही है, जो माच पर भी घटित होती है।

'सिरी थूलिभद्द फागु' की कथा को स्थूल रूप से देखें तो उसे 'भासो' में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भास के अन्त में 'वत्ता' द्वारा कथा को विश्राम दिया जाता है। चूकि प्राय रास में कथावस्तु होती हैं और गेयता के साथ वे नाट्य रूपक हैं, अत उदाहरणार्थ भासो के विभाजन क्रम को यहाँ देना मगत होगा —

भास	१	मगलाचरण, थूलिभद्द का यश स्तवन, वेश्या के ससभ्रम का वद्ध होकर आगमन तक का वर्णन।
भास	२	स्थूलभद्र का रगशाला में प्रवेश और वर्षा का चारु चित्र।
भास	३-४	कोशा के नखशिख सौन्दर्य का वर्णन।
भास	५	मुनि को लुभाने के लिये कोशा के हाव-भाव का वर्णन।
भास	६	मुनि की चारित्रिक दृढ़ता एव सयम की अटलता।
भास	७	उपसहार, काम-विजय और देवताओ द्वारा पुष्प-वृष्टि, नृत्य-गायन से समाप्ति।[1]

माच और रास में निम्नलिखित तुलनात्मक लक्षण उल्लेखनीय है —

१ रास में केवल पद्यात्मक सवाद योजना है। यद्यपि रास में श्रव्य काव्य की प्रतीति होती है, जबकि माच में यह स्पष्टीकरण सवाद (बोल) और लौकिक रागो के निर्देश के कारण नहीं होता, उसमें दृश्य योजना के सपूर्ण सकेत निहित है।

२ रास अधिकाश में यूरोप के 'मिराकल' या 'मिस्टिक प्लेज' की भाँति है, जिनमें श्रीमद्भागवत की कथाएँ विभिन्न लीलाओ के रूप में की जाती है। इनका अभिनय मन्दिरो या अन्य पवित्र स्थानो में किया जाता था। माच ने लौकिक प्रेम-कथाओ का आश्रय लिया, इसीलिये उनका अभिनय मन्दिरो में न हो कर खुले एव सर्वसाधारण स्थानो में किया जाने लगा।

३ यात्रा, रामलीला और रास के कथानक धार्मिक ग्रन्थो पर आधारित है और माच की भाँति उनमें लोक-संगीत का प्राधान्य अवश्य है, किन्तु गीत-सवादो द्वारा कथानक की सूत्र बद्धता कायम करने के लिये सूत्रधार आद्योपान्त मच पर रहता है, जिसका माच में अभाव होता है। माच में पात्र अपने सवाद की समाप्ति पर स्वय हट कर एक

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५९, अक १, २०११ में 'सिरी थूलिभद्द फागु' लेख, पृष्ठ २९।

ओर खड़े हो जाते है और अन्य पात्र के 'आगम' के लिये मच पर स्थान देते है।

इसमें सन्देह नही कि अप्रत्यक्ष रूप से रास ने माच को प्रभावित अवश्य किया है। पद्यबद्ध नाटककी प्राचीन परम्परा लोकधर्मी रही है। यही कारण है कि आधुनिक युग में गीति-नाट्यो का स्वरूप एक प्रकार से नाटक के क्षेत्र में चला आ रहा है। यात्रा अथवा रास-परम्परा ने प्रत्येक प्रान्त के नाट्य साहित्य को प्रभावित किया है। इस प्रभाव से ख्याल और माच अलग नही रहे।

माच के प्रवर्त्तक

१. बालमुकुन्द गुरु

मालवा में प्रचलित माच के आदि प्रवर्तक अवन्तिका निवासी बालमुकुन्द गुरु है। किंवदन्तियो के अनुसार गुरु बालमुकुन्द उज्जैन के भागसीपुरे में 'ख्याल' देखन जाया करते थे। उन दिनो नगर का आकर्षण इन्ही ख्यालो में केन्द्रित हो रहा था। एक दिन भीड अधिक होने के कारण उत्सुकतावश वे मच के एक छोर पर जा बैठे, पर कुछ कार्यकर्त्ताओ ने उन्हें वहाँ से उठा दिया। अपमान का कडवा घूट पी कर आवेश में उन्होने नगर के रुद्रसागर में वटुक भेरू की इष्ट साधना की, जिसका मत्र उन्होने सुखराम यती से प्राप्त किया था। कहते है साधना से प्रसन्न हो कर भेरू ने दर्शन दिये उन्होने छद और काव्य-ज्ञान का वरदान मांगा। सवत् १९०१ 'सरसत हिरदे आयी' (सरस्वती हृदय में आयी) और गुरु जी ने माच रचना आरम्भ किया। इस किंवदन्ती से यह प्रकट है कि बालमुकुन्द गुरु के पूर्व अपने ग्रामीण रूप में मालवा में रगमच था, जिससे प्रेरणा प्राप्त कर गुरु की प्रतिभा ने उसका नया स्वरूप अभिव्यजित किया। मुसलमानो के शासन के पूर्व ऐसे मचो के सबध में कोई सूत्रबद्ध सामग्री के अभाववश इस विषय में प्रकाश डालना मात्र अनुमान गम्य है। अतएव माच के सन्दर्भ में ग्रामीण मच की स्थिति का वास्तविक आकलन करना कठिन है।

१९वी शताब्दी के द्वितीय-तृतीय चरण हिन्दी के रीतिकालीन पतनोन्मुखी समय के सूचक हैं। राज-दरबारो की विलासिता भक्ति पर हावी हो कर अपने विशुद्ध शृगारी रूप में उभर रही थी। आर्थिक सघर्ष नही था। तो भी यत्रो का प्रभाव आरम्भ हो गया था। लोग खाते-पीते सुखी थे। वैचारिक सघर्ष के अभाव में खाना-कमाना, आनन्द करना और जीवन के अन्त समय में भगवत् चिन्तन कर लेने में इतिश्री थी। मालवा प्रारम्भ से ही उपजाऊ रहा है, अत यहाँ की भूमि से जाग्रति और भी दूर थी। ठीक ऐसे समय बालमुकुन्द गुरु ने मालवी के माध्यम से लोकरजन के उद्देश्य को लेकर माच नाम नाट्य शैली का प्रवर्तन किया। भक्ति, वैराग्य, शृगार और पौरुषेय भावनाओ का लोकग्राही रूप उनकी रचनाओ में लक्षित हुआ। प्रारम्भ में जिन पाँच माचो को उन्होने रचा है, उनमें उन्होने 'निगुर्णी कथी' है अर्थात् उनकी पृष्ठ भूमि निगुर्णी कथा-वस्तु से सबधित है।

रचनाएँ

गुरु बालमुकुन्द ने कुल १६ माचो की रचना की है, जो क्रमश खेले जाते है और जिनमें स्वय गुरुजी मुख्य पात्र का अभिनय करते थे। आज भी उन्ही के वशजों

में वयोवृद्ध ही इम पात्रता का अधिकारी है। उक्त मोलहो रचनाओं की मूल प्रतियाँ गुरुजी की चौथी पीढी[1] के पास सुरक्षित है।

छापेखानो के आरम्भ होते ही गुरुजी ने माचो की मुद्रित प्रतियाँ वाजार में आ गई। यह वीसवी शताब्दी के प्रथम दशक के पश्चात् ही सम्भव हुआ। यद्यपि, उज्जयिनी में माच के खेलो की प्रतियाँ मवत् १६८२ के लगभग छपकर प्रकाशित हुई, पर इसके पूर्व इन्दौर के किसी मुद्रणालय द्वारा इन्ही माचो की प्रतियाँ मुद्रित कर प्रकाशित की जा चुकी थी। कहते है उज्ज्जयिनी में भी संवत् १६२० के लगभग माच के खेल छप कर वेचे जाते थे, पर उसका कोई ठोस प्रमाण नही है। उज्जयिनी के 'दयाशकर शालिग्राम वुकसेलर' ने गुरु के कुछ माच २०×३० की माइज में अलग-अलग छापे हैं। 'राजा हरिश्चन्द्र' (जो पुस्तकाकार सवत् १६८२ में प्रथम वार मुद्रित हुआ) के अन्तिम पृष्ठ पर प्रकाशक ने लिखा है—"अगर हो कि जो खेल पहले छपे थे उस से इन्दौर वाले ने खेल छपाये सो वह खेल वेमतलव है। कडी में कडी नही मिलती कफिर वदी से गलत कडी टूट है। किधर का हाथ किधर का पाँव किधर का धड किधर का मुँह लगा कर पूरा खेल ऐसा नाम धरके लोगो को धोखा देने वास्ते छपाया है "

इससे प्रगट होता है कि सवत् १६८२ के पूर्व शालिग्राम वुक्सेलर ने भी माच की कुछ पुस्तकें अवश्य छापी थी। माच के अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण ही इन्दौर का कोई वुक्सेलर उन्हें छापकर वेचने का लोभ सवरण नही कर मका। 'नागजी दूदजी' की तो उक्त सवत् में तीमरी आवृत्ति प्रकाशित हो गई थी। उसमें भी उक्त सूचना छपी है।

वालमुकुन्द गुरु के उपलब्ध माचो की प्रतियो के आधार पर निम्न सूची सवत् एव आवृत्ति सख्या सहित दी जा रही है —

	नाम					प्रकाशक		
१	राजा हरिश्चन्द्र	आवृत्ति	प्रथम	सवत्	१६८२	शालिग्राम	वुक्सेलर	उज्जैन
२	नागजी दूदजी	„	तृतीय	„	१६८२	„	„	„
३	ढोला मारुणी	„	छठी	„	१६८५	„	„	„
४	नकल गेंदापुरी	„	प्रथम	„	१६६०	„	„	„
५	रामलीला	„	प्रथम	„	१६८२	„	„	„
६	कुँवर खेमसिह	„	प्रथम	„	१६८२	„	„	„
७	सेठ सेठानी	„	षष्ठम	„	२००७	„	„	„
८	देवर भौजाई	„	दसवी	„	२००६	„	„	„
६	राजा भरथरी	„	दसवी	„	२००६	„	„	„
१०	सुदवुद सालगा	„	दसवी	„	२००६	„	„	„
११	कृष्णलीला			अप्रकाशित				
१२	खेल रावत			„				
१३	चारण वजारा			„				
१४	हीर-राझा			„				
१५	शिवलीला			„				
१६	वैताल पच्चीमी			„				

---

१ परिशिष्ट में वश-तालिका प्रस्तुत है।

कालूरामजी का उपनाम 'दुर्बल' था। आपमें अभिनय की प्रतिभा न थी। केवल रचनाकार के नाते ही अपनी परम्परा चलाने में सफल हुए। लगभग ४० वर्ष की अवस्था में आपकी मृत्यु हुई।

३. भेरू गुरु

कालूराम उस्ताद के समकालीन उज्जयिनी के ही नये पुरे का एक दल भेरू गुरु की प्रेरणा से अपनी अलग परम्परा ले कर माच खेलने लगा। भेरू गुरु रचित १२ माचो की जानकारी डॉ० चिन्तामणी उपाध्याय को अपने अनुसधान के क्रम में प्राप्त हुई है। उनके कथनानुसार जो पुस्तकें उन्होंने देखी, वे सभी हस्तलिखित एव जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। नवापुरा का दल भेरू गुरु के ५ खेल तो प्रतिविर्ष करता ही है, यद्यपि माचो की सख्या १२ है, जो निम्नलिखित हैं —

१ गोपीचन्द	७ छैल बेटा मोयना
२ राजा विक्रमाजीत	८ चम्पन कुँवर
३ पूरणमल	९ खेमासिंह आवलदे
४ हीर-राझा	१० मदन सेन
५ कुँवर केसरी	११ सीता-हरण
६ लाल सेठ	१२ सिंगासन बत्तीसी

अतएव स्पष्ट है कि उक्त माच-रचनाकारो के नाम माच की चार परम्पराओ का आरम्भ उज्जयिनी में हुआ जो आज भी विद्यमान है। उक्त ५५ माच रचनाओ में निम्नलिखित कथाओ को दो या दो से अधिक रचयिताओ ने अपनाया है।

१ हरिश्चन्द्र (बालमुकुन्द गुरु, कालूराम उस्ताद)
२ रामलीला (,, ,,)
३ हीर-राझा (बालमुकुन्द, कालूराम, भेरु, राधाकिशन)
४ गोपीचन्द (भेरु और राधाकिशन)
५ खेमासिह (बालमुकुन्द और भेरू)
६ त्रिया चरित्र (कालूराम और राधाकिशन)

प्राय सभी माचकारो की वही शैली और वही धज है जो बालमुकुन्द गुरु में थी। इस बीच मालवा के गूजर गौढो ने भी अपनी परम्परा चलाना चाही, किन्तु उन्हें सफलता नही मिली।

नये माचकार

राधाकिशन गुरु की परम्परा में नार्थूसिह उस्ताद ने (१) 'शनि महाराज' और (२) 'सत्य नारायण की कथा' पर माच लिखे है। दूसरा माचकार सिद्धेश्वर सेन है, जिसने सवत् २००५ और २०१० के मध्य (१) 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' (२) 'नल दमयन्ती', (३) 'नरसिह मेहता' (नानीवाई को मामेरो), (४) 'भक्त प्रहलाद', (५) दयाराम गूजर और (६) 'राजा रिसालू' खेलो की रचना नये ढग से की है। राधाकिशन गुरु के माच के साथ कभी-कभी उक्त रचनाओ से किसी भी माच का अभिनय कर दिया जाता है। इन नये माचो में अश्लीलता का तनिक भी स्पर्श नही है, यद्यपि कथाएँ प्राय ख्यालो से प्रभावित शैली में लिखी गई हैं। इस परम्परा में 'छप्पन भैरव की जय' वोली जाती है।[1]

---

१. छप्पन भैरव ब्रह्म पोल में बाधन वीर अगवान।
हर दम हाजर रहे माच पे ले तीर कमान।
—स्तुति की पक्तियाँ

अन्य नये माचकारो में सेवाराम परमार ने (१) 'ध्रुव प्रहलाद' एव (२) 'निहालदे' की रचना की हैं। नीमच के ख्यालकार रामजीलाल वन्वु, लालजी नन्दराम, मुडवेवाले रामरतन दरक, वडनगर के शिवरामजी व्यास भी उल्लेखनीय हैं। जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है उक्त चार परम्पराएँ ही मालवा की जनरुचि को प्रभावित किये हुए हैं। यद्यपि स्थूल रूप से मालवा के माचो की प्रवृत्ति शृगारी है तथापि शिक्षा के अभाव में लिखे गये स्थानीय भाषा के इस साहित्य का इसलिये महत्त्व अधिक है कि यह पिछले डेढ सौ वर्ष से लगभग ६०—७० लाख मालवी भाषा-भाषी लोगो को सतत् रूप से प्रभावित करता आ रहा है।

वस्तु-विश्लेषण

कथा-वस्तु की दृष्टि से उपलव्ध माच-साहित्य (१) पौराणिक, (२) प्रेम कथात्मक, (३) ऐतिहासिक और लोक कथात्मक है। ऐतिहासिक कथानको में शृगार परक वस्तु का वहुत महत्त्व है। शौर्य के साथ प्रेम की व्यजना कथानक का लक्षण है। धार्मिक वस्तु पौराणिक भेद के अन्तर्गत है। प्रेम कथात्मक एक लोक कथात्मक माच स्थूल रूप से लोक परक है, जिसका स्वरूप या तो पूर्व प्रचलित ख्याल-परम्परा से लिया गया है अथवा किंवदन्तियो के आधार पर जिनकी रचना की गई है। 'ढोला मारूणी' ऐतिहासिक और लोक-काव्य दोनो हैं। वालमुकुन्द गुरु द्वारा प्रयुक्त कथावस्तु की स्थूल रूप-रेखा से ज्ञात होता है कि उन पर लोहवन के मदारी रचित ढोला का अधिक प्रभाव पडा है। कथा की जो सक्षिप्त योजना मदारी के 'ढोला' में है वही सक्षिप्तता गुरु के 'ढोला मारूणी' में पाई जाती है, फिर मदारी का ढोला निश्चय ही गुरु के पूर्व की रचना है जो व्रज-क्षेत्र में खूव प्रचलित रही है।[1] गुरू का 'ढोला मारूणी' राजस्थानी 'ढोला मारूरा दूहा' अथवा 'छत्तीस गढी लोक-गीतो का परिचय'[2] में सकलित ढोला अथवा व्रज के ढोला काव्य की आत्मा से अनुप्राणित सगीत नाट्य मात्र है। प्रस्तुत मांच में कथा ढोला के आगमन से आरभ होती है। वह साडनी (ऊँटनी) पर सवार हो कर आता है। यद्यपि मंच पर साड़नी नही होती, केवल 'वोल' द्वारा उस साड़नी का 'आगम' अनुमानित कर लिया जाता है। उधर मारू का वियोग तोते द्वारा सदेह और रेवा द्वारा विघ्न पैदा करने की योजना की जाती है, किन्तु अन्त में सुखद मिलन में कथा समाप्त होती है। प्रधानत राजस्थानी ढोला के समस्त उपकरण—रेवा, ढाडी, सुआ, कन्हरा, आदि कथा में योग प्रदान करते हैं। मालवी के इस माच में नल-दमयन्ती का प्रसग अस्वाभाविक रूप से जुड़ गया है और ढोला नल का पुत्र वताया गया है।

कथा के विस्तार का अभाव प्राय सभी माच रचनाओ में हैं। 'नागजी दूदजी', 'निहालदे मुल्तान', 'सुदवुद सालगा', 'राजा भरथहरी' आदि राजस्थानी ख्याल के कथानको का निर्माण ख्याल के ढग पर ही है। कालूराम उस्ताद के माचो में प्राय सभी कथानक शृगारी हैं और उनमें प्रेमाश्रयी शाखा की 'मधुमालती', 'चन्द्रकला', 'हीर-राझा' जैसी कथावस्तुओं का सदुपयोग किया है। कुछ ऐसी कथाएँ हैं जो माच के अतिरिक्त ख्यालो की रचनाएँ अधिक हैं। 'राजा हरिश्चन्द्र', 'सेठ-सेठानी', 'ढोला मारूणी', 'देवर भौजाई', 'सुदवुद सालगा', 'राजा भरथरी', चारण वनजारा' 'हीर-राझा' आदि माचो की कथाओ

---

१. देखिये, डा० सत्येन्द्र का 'व्रज लोक साहित्य का अध्ययन'—पृष्ठ १०६ और ३७७।

२. श्यामाचरण दुवे—'छत्तीसगढ़ी लोक गीतों का परिचय।'

पर की कुछ ख्याल रचनाएँ मिलती हैं जिनमें इन कथाओ की लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है।

चरित्र-चित्रण

माच में चरित्र-चित्रण के विस्तार के लिये सूक्ष्म तत्वो का आश्रय लेना सम्भव नही। सगीत शैली की सवाद योजना प्रत्येक चरित्र की उठान के लिये गायन के कौशल पर ही निर्भर है। मच पर जो पात्र अच्छा गा जाये वही जनता की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है। आत्म-परिचय की पद्धति कभी-कभी चरित्र की अन्य विशेषताओ पर प्रकाश डालती है। प्राचीन रासो में यह प्रवृत्ति विद्यमान थी। अत माच में चरित्र-चित्रण का विस्तार थोडी ही मात्रा में सभव है।

पात्र

माच के पात्र दो भाग में विभक्त हैं (१) **स्त्री पात्र** और (२) **पुरुष पात्र**। प्राय प्रत्येक माच में पाँच स्त्री पात्रो का होना अपेक्षित है। अतएव पुरुष पात्र की अपेक्षा स्त्री पात्र की सख्या कभी-कभी अधिक हो जाती है।

नायक का प्रमुख साथी शेरमारखाँ कहलाता है (बालमुकुन्द गुरु के साथी ऊँकारजी थे)। शेरमारखाँ विदूषक का अभिनय भी करता है जिससे जनता का मनोरजन होता रहे। नायक को विश्राम देने के लिये शेरमारखाँ नायक का प्रतिनिधित्व भी करता है। गुरु बालमुकुन्दजी के समय स्त्री पात्र अभिनयार्थ गोविन्दा, कूका, टोडूलाल और लक्ष्मण की जोडें प्रसिद्ध थी। रामाजी कोली, बेनिया ब्राह्मण और भागीरथ पटेल ने भी बाद में इस दिशा में प्रसिद्धि प्राप्त की।

अभिनय के समय पात्र का प्रवेश पूर्वपात्र द्वारा ही सूचित किया जाता है। अवान्छनीय पात्र मच के एक ओर वने रहते हैं। पात्र अपने बोल की समाप्ति पर स्वय ही मच के एक ओर जा बैठते हैं।

संवाद

माच के सवाद जैसा कि ऊपर बताया गया 'बोल' कहलाते हैं। ये वोल गेय हैं। गद्यात्मक सवाद माच में नही पाये जाते। प्रश्न भी पद्य-बद्ध होते हैं और उनके उत्तर भी।

रस और अलंकार

माच के साहित्य में सगीत के अतिरिक्त बोल का विषय रस-सृष्टि का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। श्रोता लोक-साहित्य की सहज अलकारिता के वीच वोल की प्रत्येक उठान को ध्यान से सुनते हैं। साधारण उपमा, रूपक, यमक और अनुप्रास के उदाहरण माच में मिलते हैं। करुण, शान्त और शृगार का समन्वय रस की दृष्टि से उल्लेखनीय है। शेरमारखाँ नामक पात्र बीच-बीच में हास्य-रस की सृष्टि करता है।

दृश्य-योजना

दृश्य-योजना श्रोता और पात्र दोनो के लिये कल्पना-जन्य वस्तु है। पर्दों के अभाव में दृश्य का आभास कभी-कभी सवादो द्वारा प्राप्त हो जाता है। अन्यथा मात्र कल्पना से दृश्य की मानसिक उद्भावना की जाती है।

माच की वणगट

वणगट का तात्पर्य माच की छन्द-योजना और तन्त्र से है। माच के लिये वैसे कोई निर्धारित छन्द नही है, किन्तु उसकी विशेष सगीत शैली ही उसके तत्र का आधार

है। यद्यपि 'रगतो' के रूप में धुन की परिवर्तनशीलता व्यक्त होती है, तथापि छन्द-रचना की दृष्टि से माच दूहो पर लिखे गये हैं। दूहे 'लगडी', 'दोकडी' और 'इकहरी' रगत में गाये जाते हैं। 'झेला' की रगत दूहो के बीच स्वर बदलने के लिये चलती है। जहाँ लोक-गीतो का प्रयोग होता है वहाँ दूहो की बदिश नही रहती। परम्परागत धुन के बन्धन उसकी बणगट को प्रभावित करते हैं। इस तरह के गीत केवल प्रसग विशेष के बीच में आते हैं और जो सामूहिक स्वरो में ही गाये जाते हैं। दोहो के स्वरूप इस प्रकार हैं।

॥ रगत दोहरी ॥

हूँ तो म्हारे तारा लोचनी तार। सत को करां सभी सिनगार ॥टेक॥
पति हमारा सतवादी हरिचन्द सत की वादी कार। सत धरम की नाव बनई के उतरागा सम्दर पार ॥१॥

टेक ३५ मात्राएँ।
दोहा २६ मात्राएँ।

ये जी म्हारो पीयु गयो परदेस। जाजम कहाँ बिछावाजी ॥ टेक ॥
जाजम पर सतरंजी गदरा झीनी चादर बेस। तकिया और गुलतकिया कंये फूलां चूनीजी सेज ॥१॥

टेक ३५ मात्राएँ।
दोहा २६ और ३० मात्राएँ।

दोहे की दूसरी दौड देखिये—

अजी सत का राजा सत की रानी
सत का जोमें असमान तानी
अजी सत का पवन, सत का पानी
सत की राजे बोले बानी

मात्राएँ ३६
मात्राएँ ३४

और भी अन्य उद्धरणो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि माच का दोहा २६ मात्रा से ४० तक दौडता है।

टेके के बाद दोहो में सवाद (बोल) व्यवस्था होती है। प्रत्येक दोहे के बाद टेक दुहराई जाती है। जहाँ तक हस्तलिखित पोथियो का प्रश्न है, प्रत्येक प्रसग के दोहो पर धुन का निर्देश लिखा मिलता है। कभी-कभी एक ही बोल में टेक भी बदल जाती है। माच के सगीत के संबध में उल्लेख करते हुए बताया गया है कि माच की बणगट रगतो के अनुसार बदलती है। टेक से ही रगत का स्वरूप ज्ञात होता है और अन्तरा दोहा बद में दौडता है।

संगीत-पक्ष

ढोलक माच का मुख्य वाद्य है। सारंगी उनकी साथिन है। ढोलक की थाप और सारंगी की 'मींडो' पर बोल (सवाद) की लयकारी गमकती है। श्रोतागण बोल के कौशल पर 'कई की है' (क्या कही है?) कह कर झूम उठते हैं। बालमुकुन्द गुरु

का समकालीन 'बापू उस्ताद' अपने समय का विख्यात ढोलकिया था और उसका भाई 'थावरजी' सारगी के तारो पर अपनी अँगुलियाँ इस अन्दाज से फेरता कि 'बोल' और स्वरो में भेद करना कठिन हो जाता था। माच में ढोलक की थापें अलग ही होती हैं जो बोल की टेक पर 'ढोलक तान फड्ड्के' अथवा 'ढोलक सच्ची बाजे' पदाश के अनुकूल द्रुतगति से 'तीये' में सम पर आती है।

बालमुकुन्द गुरु से लगा कर वर्तमान माचकारों तक कुछ प्रसिद्ध ढोलकियों और सारगी साजो की जानकारी निम्न क्रम से प्राप्त हुई है —

(अ) **ढोलकिये** बापू उस्ताद (बालमुकुन्द के समकालीन), आत्माराम (बापू उस्ताद के भानेज), दुलीचन्द (आत्माराम का ज्येष्ठ पुत्र)—बुद्दिया, नागरजी, गल्लाजी, आदि।

(आ) **सारगी साज** थावरजी (बापू उस्ताद के भ्राता), आत्माराम (थावरजी और बापू के भानेज), भागीरथ (आत्माराम के छोटे पुत्र), आदि।

माच के बोल गाने की अपनी शैली है। उसमें लोक-सगीत के अन्तर्गत प्राप्त सादी धुनें और मालवा के ऋतु-उत्सवो के गीतों की शैली प्रचलित है। टेक प्राय लम्बी चलती है। माच के लोकोन्मुखी सगीत की विभिन्न धुनो को व्यक्त करने लिये 'रगत' शब्द का प्रयोग किया जाता है। शास्त्रीय सगीत में जिस प्रकार रागों के नाम हैं, उसी तरह स्वच्छन्द रूप में माच-परम्परा में रगतें भी अपनी विभिन्नता— रगत इकहरी[1], रग मारवाडी, रगत दोकडी,[2] रगत खडी, रगत झेला की, रगत छोटी चलन, रगत ताल ठेका की, रगत कलिगडा, रगत सिन्दू (छोटी बडी), रगत बडी चलन, रगत बदावा, रगत उडाय, इकरग आदि साकेतिक पदो द्वारा ज्ञापित है। रगतों के अतिरिक्त माचकारो ने लोकगीतो की शैली का भी समावेश किया है। राग हलूर (देखिये 'सेठ-सेठानी') में 'महाराराज' की टेक मालवी-राजस्थानी-गुजराती गीतो के कुछ लोकगीतों की समान एव प्रख्यात टेक है। इस दृष्टि से 'हलूर' पूर्णत लोक-धुन है। रगत दादरा के बोल में 'रे' का प्लुप्त उच्चारण और 'रगत बदावा' में मालवी 'बधावा' गीतों की धुन निहित है। जहाँ गज़ल का प्रयोग किया गया है वहाँ बोल का 'जुवाब' (प्रतिसवाद) भी गज़ल में ही कहा गया है। माहेरा के गीत 'रगत मामेरा', गालगीत, दोहे और पारसियाँ (पहेलियाँ) भी गायी जाती हैं। प्रमुखत लोक-सगीत के एक पक्ष को छोड कर माच का अपना विशिष्ट सगीत है। उसमें ध्वनि की ऊँचाई, तान भरने की क्षमता, बोल में 'लहरावे' की सुयोग्यता, एव ढोलक के साथ गाने की सामर्थ्य का विशेष महत्त्व है।

माच के बोल का प्रारम्भिक 'गेर' और अन्तरे की पक्तियाँ 'उडपा' तथा तानो का प्रवाह 'चलत' कहलाता है।

[माच की प्रसिद्ध धुन की स्वर-तालिका बोल के साथ परिशिष्ट में देखिये।]

★

१. एक ही प्रवाह में सम्पूर्ण दोहा कहना।
२. टेक को दुहरा-दुहरा कर कहना।

नौटंकी, स्वांग या भगत

प० रामचन्द्र शुक्ल ने सामान्य प्रवृत्तियो के आधार पर रीतिकाल का आरम्भ संवत् १७०० के लगभग माना है। इस काल में ऐहिक शृगार अपनी उद्दाम प्रवृत्तियों सहित न केवल राज-दरबारो में प्रकट हुआ, सामान्य जनता में भी उसको पनपने का अवसर प्राप्त हुआ था। जहाँ तक लोक-मच का प्रश्न है, ऐहिक शृगार की प्रवृत्ति उसके लिये नवीन नही थी। भाण, स्वाग, प्रभृत्ति के रूप में लोक-मंच पर भद्दे से भद्दे दृश्य परिस्थिति और वातावरण में सहज ही उद्भूत होते रहे हैं। यद्यपि भक्ति-काल में विभिन्न धार्मिक मतमतान्तरो के प्रभाववश मच की अधिकाश सामग्री धर्म-प्रधान रही तथापि उसके भीतर शृगार की ऐसी धारा बहती रही, जो मौका पा कर राज-दरबारो की विलासिता और राष्ट्रगत शान्ति के वातावरण में, परोक्ष और अपरोक्ष रूप में प्रेरणा पा कर, पूरे वेग से ऊपर आ गई। नौटकी, स्वाग, भगत आदि के शृगारी रूप इसी काल में नियोजित हुए, जिनमें आज तक बहुत कम परिवर्तन हो पाया है।

स्व० जयशकर प्रसाद ने 'रगमंच' निबन्ध में नौटकी की चर्चा की है। उन्होंने—कदाचित् नौटकी को 'नाटकी' का अपभ्रश माना है। लिखा है—"नौटकी और भाडो में शुद्ध मानव सबधी अभिनय होते हैं। मेरा निश्चित विचार है कि भाडों की परिहास की अधिकता सस्कृत भाण मुकुन्दानन्द और रससदन आदि की परम्परा है और नाटकी की अधिकता प्राचीन राग-काव्य अथवा गीति-नाट्य की स्मृतियां हैं।"[1] 'कर्पूर मजरी' में राजशेखर ने सूत्रधार द्वारा 'सट्टक' को नाटिका के लक्षणों से युक्त बताया है। केवल प्रवेशक और विष्कम्भक का उसमें लोप होता है—

सो सट्टओत्ति भण्णइ दूरं जो अडियाए अणुहरदि ।
किंपुण पवेस विक्खभआईं इह केवलं णत्थि ।।

'सो, सट्टक एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है—नौटकी की तरह।' प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है—"लोक में इन मनोरजक विनोदो को देख कर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियो ने इन्हें (सट्टक एव रासक) रूपको और उपरूपको में स्थान दिया था। इन शब्दो का अर्थ विशेष प्रकार के विनोद और मनोरजन थे।"[2]

इससे यह कहने में आपत्ति न होगी कि नौटकी (नाटकी) आधुनिक वस्तु नही है, चाहे वर्तमान रूप उसका कितना ही आधुनिक क्यो न हो। 'तारीख-ए-अदब-ए उर्दू' ग्रन्थ में डॉक्टर रामबाबू सक्सेना ने इस विषय में लिखा है कि नौटकी का आरम्भ उर्दू कविता और लोक-गीतो से हुआ। उन्ही के शब्दो का समर्थन करते हुए कालिका-प्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' लिखते हैं—"सम्भवत सर्वप्रथम नौटकी 'हीरराझा' की कथा थी जो आज भी पजाबी लोक-गीतो में अपना विशेष महत्त्व रखती है। ग्यारहवी-बारहवीं शताब्दी में इसका जन्म-काल मानना चाहिये।" इसके जन्मदाता मल्ल, रावत और रगा थे, जो ढोलक पर अभिनय किया करते थे। मल्ल जाट, रावत राजपूत और रगा जुलाहा था। नौटकी में जवाब रगा का आता है जिसका सबध नौटकी के साथ प्रवर्त्तक से ही है। १३वीं शताब्दी में अमीर खुसरो के प्रयत्न से नौटकी को आगे

---

१. हिन्दुस्तानी : त्रैमासिक : जुलाई, १९३७ पृष्ठ २५५।
२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् : पृष्ठ ९९–१०१

बढने का मौका मिला और कुछ ऊँचे स्तर के लोगो का ध्यान इसकी ओर गया। खुसरो स्वय जिस भाषा का प्रयोग अपनी रचनाओ में करते थे, वैसी ही भाषा और उन्ही के ढग के छन्दो का प्रयोग नौटकी के कथानको में बढने लगा।"[१] १८वी शताब्दी तक आते आते नौटकी समस्त उत्तर भारत में फैल चुकी थी। जहाँ-जहाँ लोक प्रचलित मनोरजन के साधन विद्यमान थे, उसका सम्पर्क नौटकी की प्रवृत्तियो से होने लगा। इसलिये आगे चल कर यदि नौटकी काफी विकृत वस्तु बन गई तो आश्चर्य ही क्या है!

उत्तर भारत में नौटकी को स्वाग या भगत भी कहते हैं। स्वाग ठेठ ग्रामीण मनो-जन है। सत तुकाराम के समय महाराष्ट्र में स्वागो का प्रचार था। शृगारिकता अथवा फूहड किस्म के अभिनय के कारण तुकाराम ने स्वाग का विरोध भी किया था। उनके समय स्त्रियो का वेष बनाने की प्रथा वैसी ही थी, जैसी आजकल पुरुषो द्वारा स्वाग बनाने की। नौटकी में मूँछवाले तक स्त्रियो के कपडे पहन कर अभिनय के लिये मच पर आते हैं, यह भी एक प्रकार का स्वाग ही है। "स्त्री वेष घेतलेल्या नटाचें तोंड सुद्धा पाहूँ नें" (स्त्री वेष धारण करनेवाले नट का मुँह तक न देखना चाहिये, यह तुकाराम के एक अभग में वर्णित है। श्रीधर स्वामी (१७वी शताब्दी का आरम्भ) रचित 'शिवलीलामृत' ग्रथ में तो यहाँ तक कहा गया है कि पुरुष को स्त्री वेष में देखते ही स्नान करना चाहिये। ऐसा देखने पर अध-पतन होता है और वेष धारण करनेवाले तो स्त्री हो कर ही जन्म लेते हैं।[२]

इसके पूर्व भी स्वाग का उल्लेख हिन्दी में उपलब्ध है। सिद्ध कवियों में कण्हपा (९वी शताब्दी) ने और कबीर ने अपनी एक साखी में स्वाग का उल्लेख किया है। उत्तर भारत में आजकल डोम जाति द्वारा स्वाग करने की परम्परा है। कण्हपा ने उसी जाति की स्त्री डोमनी का स्वाग के हेतु आह्वान किया है—

"आलो डोंबि! तोए सम करिब म सांग निघिण कण्हपाली जोई जग"

जायसी ग्रथावली में भी अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड में एक वेश्या जोगिन का स्वाग धारण करके पठायी जाती है। "पातुरि एक हुति जोगी सवागी। साह अखोर हुत ओहि मागी।" (**बादशाह दूती, खण्ड–१**)। स्त्रियो द्वारा वेष बनाने की प्रथा अब उठने लगी है। 'इसीलिये पुरुषो द्वारा क्रमश स्त्री का स्वाग धारण करने का रिवाज चल पडा। इसके पार्श्व में विनोद निहित है। पुरुष मनोरजनार्थ स्त्री का स्वाग और स्त्री पुरुष का स्वाग बनाती है। स्त्री-स्वाग की प्रथा राजस्थान, पजाब, मालवा और गुजरात की स्त्रियो में अब भी बची हुई है, जो मनोरजन के हेतु विवाह आदि मागलिक अवसरो पर दूल्हा-दूल्हन की नकल, आदि विभिन्न रूपो में दीख पडती है।

मध्यवर्ती भारत के गाँवो में प्राय बेडिनियो के 'राई' नाच हुआ करते हैं। उस अवसर पर गाँव के लोग हास्य उत्पन्न करने के लिये स्वाग करते हैं। बेडनी भी गीतो में स्वाग गाती है। ये स्वाग थोडी-सी पक्तियो में होते हैं, जिनका उद्देश्य हास्य और शृगार की वृद्धि करना मात्र होता है। बेडनी का एक स्वाग गीत लीजिये –

---

१ हिन्दुस्तान साप्ताहिक . ६ सितम्बर, १९५७ . पृष्ठ २५।

२ "पुरुषास स्त्री वेष देखता साचार। सचेल स्नान करावें॥
पुरुषास नारी वेष देखाता। पाहणार जाती अधः पाता।
वेष घेणार ही तत्वतां। जन्मो जन्मो स्त्री होय—।"

'नौटकी' का एक दृश्य

[पृ० ४६]

मन में वस गइ मोरे
नैना रतनारे सूरत श्यामली।
राजा जिन मोई साव
कड़ गई लडकपन की देहरा
जिन मारों नैना वान
जेखों लगे ओई जाने
राजा अब जिन सताव
कड़ गई लडकपन की देहिरा।--(बुन्देलखण्ड)

सन् १९१० की 'इडियन एटिक्विरी' (जनवरी) की फाइलो में रामगरीब चौवे द्वारा स्वाग की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। उनके अनुसार सन् १८१६ के आस-पास अम्वाराम नामक गुजराती ब्राह्मण ने जो सहारनपुर में रहा करते थे, नये ढग से स्वागों की रचना की। श्री दशरथ ओझा ने एक वार्ता के आधार पर दीपचन्द नामक एक स्वागकार का उल्लेख किया है। कहते हैं इसका कला मवधी उत्कर्ष १९वी शताब्दी के अन्त में हुआ। उसने शृगारिकता का वहिष्कार किया और वीर-रस से परिपूर्ण स्वागो की रचना की, जिन्हें उनके शिष्य रोहतक की ओर ले गये, जहाँ वे अव भी प्रचलित हैं।

ब्रज की ओर खुले रगमच पर नौटकी के ढग की भगत होती। डॉ० सत्येन्द्र का कथन है कि 'ब्रज' में दो प्रकार की भगत मिलती है—एक आगरा वाली और दूसरी हाथरस वाली। स्वाग भी हाथरस और रोहतक के भिन्न है। "हाथरस की भगत' या नौटकी का प्रचार नाथाराम ने किया। उनकी भगत के चौवोलो की पुस्तकें बाजार में मिलती है। ये चौवोले छोटी तान के होते हैं। आगरा के चौवोल लम्वी तान के होते है।" उर्दू का एक छन्द है—'वहरे तवील (वहर=छन्द, तवील=लम्वा) जो लम्वा होता है, आगरा की नौटकियो में विशेषत पाया जाता है। उनके चौवोले इसीलिये लम्वी तान के होते है। मालवा, निमाड और राजस्थान में 'किलगी-तुर्रा' नामक लोकरजन का एक काव्य सगीतवद्ध सावन प्रचलित है, उसमें चौवोलो पर लावनियो की शृगारिकता हावी हुई। उनमें चलनेवाला सगीत प्राय उसी ढग का मिलता है। 'वहरे तवील' की एक पक्ति है —

ये रावण तू धमकी दिखाता किसे,
मुझे मरने का खौफो-खतर ही नहीं। (नौटकी रामायण)

भगतो में विविध प्रकार की लीलाएँ खेली जाती हैं। स्वाग का इनमें पूरी तरह से समावेश है। ऊँचे मच पर ये भगतें सप्ताह तक चलती हैं। नौटकी में आल्हा-छद का प्रयोग वीर-रस को उत्कर्ष प्रदान करने के लिये किया जाता है। भगतें भी वैसे ही आल्हा से प्रभावित हैं। जिस प्रकार मोरध्वज, हरिश्चन्द्र, आदि धर्म प्रधान कथानक भगतो में प्रचलित हैं, उसी प्रकार जानआलम, भक्त पूरनमल, सियाहपोश आदि शृगार-कथानको का वर्णन आल्हा के ढग पर इनमें मिलता है। 'वहरे तवील' शृगारी भावों को व्यक्त करने के लिये उपयुक्त, है पर कई नौटकियों में युद्ध आदि का वर्णन इसी छन्द में हुआ है। हाथरस की कई भगत-मडलियाँ इन दिनो रासवालो से मिल-जुल गई हैं। यद्यपि स्वतत्र अखाडे भी अपने-अपने क्षेत्र में गतिशील है। जहाँ सयोग हुआ है, वहाँ मिश्रित नाट्य परम्परा स्वाभाविक रूप से मच पर दीख पडने लगी है।

नौटकी, स्वाग या भगत का मच खुले स्थान पर बनाया जाता है। मच काफी ऊँचा बनाया जाता है। ऊँची-ऊँची बल्लियो पर शामियाने के ढग का ढाँचा सजा कर खडा कर दिया जाता है। मच के एक कोने में दर्शको को दिखाते हुए नगाडेवाले बैठते है। नगाड़े की ध्वनि विशेष ढग की होती है। जो इन्ही खेलो से सबध रखती है। मालवा के माच में जिस प्रकार ढोलक का प्रभुत्व है उसी प्रकार नौटकी में नगाड़ो का साम्राज्य है। नौटकी या भगत का अभिनय देर रात्रि से आरम्भ हो कर प्रात काल तक चलता है। वही हाल माच का है। जहाँ कभी होड करने का प्रसग आ जाये वहाँ समय का यह बन्धन भी अपना बाँध तोड कर आगे बढ़ सकता है।

हाथरसवाले नाथाराम का ऊपर जिक्र किया गया है। लोगो में यह व्यक्ति नत्था के नाम से प्रख्यात है। नत्था की रामायण नौटकी की जानी पहचानी वस्तु है। कहते है, नत्था ने लगभग बीस नौटकियाँ लिखी है। अन्य नौटकियो के रचयिता फर्रुखाबाद के तिरमोहन, कानपुर के श्रीकृष्ण, राधेश्याम कथावाचक, तथा लम्बरदार है। नौटकियो के अखाडे में होड होती है, पर इनमें मौलिकता बहुत कम देखने में आती है। प्राय सभी के विषय मिलते-जुलते है। वही कथानक और बहुत कुछ मिलते-जुलते सवाद। चीजो को तोड-मरोडकर अपनी बनाने की प्रवृत्ति विद्यमान है। कतिपय कथानक उर्दू की कृपा से नौटकियो में स्थान पा गये है। आज ऐसे कथानको से हिन्दी भाषा-भाषी सभी जन परिचित है। शीरीं-फरहाद, सुल्ताना डाकू, लैला-मजनू, इन्दर-सभा आदि ऐसे ही कथानक है। शृगार प्रधान कथानको में लालारुख, प्रेमकुमारी, जवानी का नशा, आँख का जादू, त्रिया-चरित्र इत्यादि उल्लेखनीय है। कठपुतली के खेल का प्रसिद्ध 'अमरसिह राठौर' वीर-रस का स्वाग है। नौटकी में यह इतिहास से अधिक निकट आ गया है। सगीत 'अमरसिह राठौर उर्फ आगरे की लडाई' के नाम से छपित नौटकी बाजारो में मिल जाती है।

छपित पुस्तको की प्रतियो में जो भाषा सामान्यत उपलब्ध है वह रीतिकालीन प्रवृत्तियो से पोषित एव उर्दू शायरी से अधिक प्रभावित है। प्रातीय भाषाओ का प्रभाव अभिनय के अवसर पर इन रचनाओ में झलकता है। ब्रज की भगतो में ब्रज भाषा अथवा पजाब में पजाबी का प्रभाव स्वाभाविक है। अभिनय के समय लिखित पोथियाँ केवल सहायक भर होती है।

नौटकी, स्वाग या भगत तीनो एक ही वस्तु है। कही स्वाग के नाम से नौटकी विख्यात है, तो कही भगत के नाम से। स्वाग की प्राचीनता में सन्देह नही, भगत मध्य-काल की वस्तु है और नौटकी प्राचीन स्रोत में रीतिकालीन अथवा उसके थोडे पहले की ऐहिक प्रवृत्तियो की मिली-जुली धारा है। अमीर खुसरो की भाषा का प्रभाव नौटकी में लक्षणीय है, जो निस्सदेह मुसलमानी प्रश्रय का प्रतिफल प्रतीत होता है।

गुजरात

भवाई

गुजराती और राजस्थानी रगमच का पूर्वेतिहास 'भवाई' नाटको मे सबधित है। आज भी गुजरात और राजस्थान के गाँवो में भवाई मण्डलियाँ घूम कर खेल किया करती हैं। गुजरात में 'भवाई' बडा भद्दा और साधारण कोटि का होता है। इसका अभिनय करने के लिये किसी भी ऊँची भूमि मदिर अथवा घर के चबूतरे पर लोक-मच अस्थाई रूप से बना लिया जाता है। भवाई नाटक न तो सस्कृत नाटको की भाँति अकबद्ध होते हैं और न उनमें व्यवस्थित कथा का तारतम्य ही पाया जाता है। भवाई की प्रसिद्धि तो उसकी वेश-भूषा, दैनिक जीवन से सबधित घटनाओ का अभिनय और धार्मिक कथाओ के विश्वास पर आधारित है। दो-तीन व्यक्ति कपडा तान कर खडे हो जाते हैं, तथा तबले, नगारे और तेज आवाज वाले वाद्यो के साथ कभी सम्मिलित स्वर में या कभी स्वतत्र रूप से अभिनेता गा कर अभिनय करते हैं। प्रारम्भ में गणपति की वदना भवाई का अनिवार्य अग है। स्वय गणपति मच पर आते हैं, तत्पश्चात् अभिनय आरम्भ होता है। स्त्रियों का अभिनय पुरुष ही करते हैं। साधारण जनता के लिये भवाई प्रबल मनोरजन के माध्यम रहे हैं। उनमें अश्लीलता के प्रवेश के कारण जो भद्दापन एवं फूहड किस्म की चेष्टाओ का क्रमश समावेश जब से होने लगा, तभी से गुजरात के कतिपय विद्वानो द्वारा इसका विरोध आरम्भ हुआ। अत भवाई प्रथा का धीरे-धीरे कम प्रभाव न केवल आधुनिक रगमच के कारण हुआ, वरन शिक्षितो द्वारा उसकी अश्लीलता के विरोध में जो आन्दोलन उठ खडा हुआ वह भी एक कारण था। गुजरात में रणछोड भाई उदयराम ने भवाई की अश्शीलता नष्ट करने के लिये अनेक नये नाटक लिखे। किन्तु ऊपरी तौर पर भवाई का यह विरोध जन को उसकी परम्परा से एकदम अलग न कर सका। भवाई करनेवाले तरगाणा जाति के लोगो की एक बडी सख्या यह काम फिर से करती रही। राजस्थान के भवाइयो के प्रति ऐसा कोई विरोध नही हुआ। भवाई जाति में अभिनय करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति एव क्षमता रही है। लोक प्रचलित परम्परा का इस प्रकार सहज ही लोप होना सभव नही था। उसके अभिनय की परम्परातमक प्रणाली और हास्य के लिये स्थानीय विशेषताओ को ले कर विदूषक का अभिनय लोगो के मन में गहराई तक बैठे हुए थे। गुजराती में सस्कृत नाटको का यह विदूषक 'रगलो' कहलाता है। भवाई की अधिकाश सफलता इस 'रगलो' पर निर्भर रहती है। नये मच पर यही रगलो लोक-नाट्यो के माध्यम से अवतरित हुआ। गुजरात में रणछोड भाई उदयराम के अतिरिक्त दलपतराम, नर्मदाशकर, मणिभाई, नभुभाई, विभाकर आदि ने मच के लिये नवीन नाटक लिखे, पर जनभूमि में विकृति आते देख उन्हें भी क्रमश मच से अपने सबध शिथिल करना पडे। एक शताब्दी पूर्व बम्बई में 'शकर सेठ' का नाट्य-गृह आरम्भ हुआ था। उसकी पारसी-महाराष्ट्रीय अभिनय पद्धति से तंग आ कर अनेक नाटककारो ने लेखनी उठाई। रणछोड

भाई ने सन् १८६१ के पश्चात् 'जयकुमारी-विजय', 'हरिश्चन्द्र', 'ललिता दु ख-दर्शन' आदि लिख कर भवाई के प्रभाव को कम करना चाहा। उनका यह प्रयास दोतरफा था। एक ओर पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के आग्ल प्रभाव को मिटाना तथा दूसरी ओर भवाई देखनेवाले लोगो की रुचि को परिष्कृत करना। इसी समय कुछ और गुजराती नाटक कम्पनियाँ स्थापित हुईं। सती द्रौपदी, मीराबाई, नृसिह मेहता जैसी कथाओ का बोल-बाला था। इन नाटको के प्रति लोकप्रियता कम न थी। इस प्रकार ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों का भी प्रवेश हुआ। एक ओर नगरो में गुजराती नाटकों का मच विकसित हो रहा था तो दूसरी ओर भवाइ की परम्परा अपनी स्वाभाविक गति से चल रही थी। साहित्यकारो के जन-सम्पर्क से अलग होकर काम करने की वृत्ति के कारण जो कुछ रणछोड भाई का स्वप्न था, वह पूरा न हो सका।

कतिपय विशेषताओ के कारण 'भवाई' एक लोक-नृत्य का भी प्रकार माना जाता है। राजस्थान-मालवा में गुजरात की ओर से जो जन-प्रवाह बहा उसने भवाई का प्रचार दूर-दूर तक किया। भारतीय लोक-नृत्यो के उद्धारक देवीलाल साभर ने भवाई को राजस्थान और मालवा की उत्पत्ति बताया है। उन्होने इस सबध में एक कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है, "आज से ४०० वर्ष पूर्व जब राजस्थान के गाँवो में भी साप्रदायिक और जातीय भेदभाव के अकुर उत्पन्न हुए, ऊँचनीच के भेदभाव बढे, पारि-वारिक जीवन में विशृखलता उत्पन्न हुई, कला विलास और व्यभिचार का साधन समझी गई, ऊँची जाति के लोगो ने उसे तिरस्कार के योग्य समझ अपने से दूर ही रखा तो यह भावना गाँवों में सबसे अधिक राजपूतों और जाटो में देखी गई। यह लडाकू जाति थी। नृत्य और गान को ये लोग शौर्य और वीरता का शत्रु समझते थे। खेती करना और पशु पालना इनका मुख्य व्यवसाय था। इन्ही जाटो में नागाजी नाम का एक जाट था जो केकडी नामक स्थान में रहता था। इसे बचपन से ही नाचने, गाने का शौक था। यह बात जाटों को अच्छी नही लगी, उन्होने उसे नककाडा, भाला, भूगल और जाजम देकर अपनी जाति से निकाल दिया और कहा कि तू आज से ही हमारी जाति का भाड, भवाई है और तुझे समस्त जाटो के मनोरजन का अधिकार दिया जाता है। तब से नागाजी जाट और उसके परिवार वाले भवाई कहलाने लगे।"[1]

इस पद्धति का अनुसरण अनेक जातियो ने किया। नाच-गाने को अपने गौरव के विरुद्ध समझनेवाली ठसक सामन्ती प्रभावो से युक्त थी। अत भवाई जाति जो कि इस प्रकार अनेक जातियो से तिरस्कृत हो नाचने-गाने के लिये निकाले गये लोगों का सगठन थी, सामन्ती व्यवस्था से प्रादुर्भूत वर्ग-भेद का परिणाम कही जा सकती है। निम्नवर्ग के लोगो ने भी अपने भवाई बनाए। जाट, धाकड, डागी, भील, गूजर, लोढा, कुमावत आदि जातियो के भवाई राजस्थान-मालवा में पाये जाते हैं। गुजरात के (भवाई) नाट्य इन भवाइयो के नृत्य-नाट्यो से काफी मिलते-जुलते हैं।

भवाई नृत्य, नाट्यो के कुछ नाम है—'बोरा बोरी' (बनियो का खेल), 'सूरदास' (अन्धे और कुचरित्र साधू का खेल), 'डोकरी' (जिसमें वृद्धा अपनी लडकी का विवाह एक वृद्ध मे करती है—समाज की कुप्रथा पर हास्यात्मक व्यग), 'लाड़ा-लाडी' (दो पत्नियो वाले अधेड की दुर्दशा—बहु-विवाह का कुपरिणाम), 'शकरिया' (कालबेलिये

---

१ लोककला (राजस्थान अक, पहला भाग), पृ० ३।

'भवाई' लोक-नृत्य

युवक का जोगन अथवा सपेरी से प्रेम का अभिनय), 'वीकाजी', 'बावाजी', 'ढोलामारू', आदि। गुजरात में यद्यपि इसी नाम के खेल नही मिलते पर सामाजिक जीवन से सबधित कथानको में काफी साम्य है।

इन समस्त नृत्य-नाट्यो में अभिनय के साथ लोकगीतो का गायन भी होता है। सारगी, नफीरी, नगारे, ढोल और मजीरो का प्रयोग वाद्यकार करते हैं।

भवाई का किसी समय पर्याप्त प्रचार था। जन साधारण में से लोक-रजन के हेतु परिहास की सामग्री खोज लाना भवाई-अभिनेताओ के लिये सहज बात रही है। बालक को सुलाने के लिये प्रयुक्त 'थे, थे, थे, थे, थे ताता, थे,' शब्द भवाई में नृत्य के बोल का काम करते हैं। इसी से गार्हस्थ्य जीवन से लिया गया परिहास-प्रकरण का ज्ञान हो जाता है।

गीतों में भवाई की कमी नही। प्रेम सबधी एक दोहा है

'सामेरी सायर उलट्या ने रतन तणाता जाय,
कर महिणेर भरे मूदड़ी तेना शगले हाथ भराय।'

साहित्य में भवाई को विशेष महत्व नही मिला है। गम्भीरतापूर्वक इस पर विचार किया जाये तो ऐसी कितनी ही सामग्री भवाई के अन्तर्गत मिलेगी जिसे साहित्य की दृष्टि से गौरव प्राप्त हो सकता है। गोवर्धनराम ने 'सरस्वतीचद भाग १' में बुद्धिधन के कुटुम्ब की स्त्रियों का वर्णन करते हुए लिखा है

'नूहानी शी नार ने नाकरे मोती।'

भवाई में यह पक्ति इस प्रकार प्रचलित है —

'न्हानी शी नार ने नाके मोती
पियु परदेश ने वाटड़ी जेती
उड़वती काग ने गणती रे दहाड़ा
ये नीशानीए नागर वाड़ा।'

इन्ही पक्तियो की भाँति दूसरी पक्तियाँ देखिये —

'छाजनी छापरी छाजले छाई
खमेधोती ते आगणे सुकाई
आगणे गाय मा पेटे खाड़ा
ये नीशानीए ब्राह्मण वाड़ा।'

नाटको में नवीन प्राणो के सचारार्थ भवाई में लोकोन्मुखी अनेक विशेषताएँ हैं। उसमें नृत्य-नाटिका के गुण तथा नृत्यों के साथ गीतो के प्रयोग की प्रवृत्ति का पूरा समावेश है। नृत्य-प्रसग में अभिनेता नृत्य करते हुए ही लोगो के सामने आते हैं। किस प्रकार के नृत्यो का प्रचार पहले था यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। यह शोध करने का विषय है। गुजरात में तबले के भिन्न-भिन्न बोल नृत्य के विभिन्न प्रकारो की सम्भावना व्यक्त करते हैं। भवाई के नृत्य अवश्य ही खास ढग के होगे। कुछ देशी ढाल के छद, कुडलियाँ तथा रेख्ता का प्रयोग कभी-कभी होता पाया जाता है। कुछ विशिष्ट छद तो नृत्य के 'बोल' बोल कर कहे जाते हैं। अतएव भवाई में सगीत का प्राधान्य काव्य के साथ रहा है। झूला झूलने के प्रसग में दीन-दरवेश की कई कुडलियाँ भवाई में कही जाती हैं।

'महुड़ी तेरी छाया में बैठे दीन फकीर
कहाँ सोइये बाग में कहाँ सरोवर तीर
कहाँ सरोवर तीर अनोपम तेरी छाया
बैठ दीन फकीर दो घडी दीन गुमाया
कहत दीन दरवेश जुगो जुग जीवो खडी
बैठे फकीर छाय में तेरे महुड़ी।'

स्त्री पात्रो द्वारा लम्बे और विलम्बित लय में गीत कहे जाते हैं। उनमें नृत्य के अन्तर्गत ताल का प्राधान्य होता है। ऊँची आवाज में गाने की प्रथा है। गीतो की शब्द-रचना नृत्यो के अनुरूप ही प्रतीत होती है।

राजस्थान-मालवा की ओर भवाई के गीतो में हास्य के साथ प्रेम के उत्कृष्ट भावो का निर्वाह पाया जाता है। बाघाजी के खेल में भारमली कहती है —

'नेणारा सरवर करूँ प्रीतरी बाँधू पाल।
भारमली जल की मॅछिया, बाघो नाखे जाल।।'

श्री रामनारायण पाठक ने 'भवाई अने तरूतो' नामक अपने लेख में इस पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालते हुए लिखा है —

" तेमा पण नृत्यनो ताल प्रधान हतो अने गीत नी छेवटनी पक्तियो प्रबल ताल थी द्रुत लयमा नृत्य साथे गवाती अवो गीतो हू प्रयोग थी बतावी शकु अमे नथी। छता एक दृष्टात आपु छु, जेनें शब्द रचना ज अेनी नृत्योचितता सूचवें छे। के साराना वेष मा झोला नामना गाणा आवे छे तेमाथी एक हु लऊ छुं —

'आछो झोलो लाग्यो रे राज ने आछो झोलो रे
नीदरी झोली लाग्यो रे राजन नींदरी झोलो रे
सोले वरसती सुन्दरी गोरी जल भरवाने जाय
काटो वाग्यो प्रेमनी अे तो ऊभी ऊभी झोला खाय
राज ने आछो झोलो रे'

इस गुजराती भवाई में स्तर की कमी अवश्य सिद्ध होती है जो राजस्थानी में नही है। कही-कही कवि के नाम की छाप लगाई जाती है। प्राय प्रचलित रचनाओ से विना नाम के ही कवि का ज्ञान हो जाता है। 'रेख्ता' में नृत्य के बोल जोड़ दिये जाते है और कभी-कभी रचयिता का नाम बाद में बोल कर दर्शको को कवि के नाम से परिचित कराया जाता है।

भवाई का अध्ययन गुजराती नाटको के पृष्ठ में अपना वैशिष्ट्य रखता है। किसी समय समस्त गुजरात में भवाई लोकप्रिय मनोरजन का साधन था। यद्यपि एक ओर अन्य प्रकार का मनोरजन भी गुजरात में प्रचलित है जिस पर मथुरा के रासों का प्रभाव स्पष्ट है। वैष्णवो के प्रभाव से ही उसमें राधा-कृष्ण की लीलाएँ और अम्बा माता की पूजा का प्रचलन हुआ।

१९ वी शताब्दी के पश्चात् नवीन नाटक जो मच पर आये उनमें अधिकाश छपे नही। भवाई के भाग्य में भी लिपिवद्धता पहले से ही न थी। ऐसी स्थिति में यह सम्भव न हो सका कि भवाई का यथोचित विकास होकर गुजरात प्रान्त की नाट्य-परम्परा विभूषित हो।

— ०० —

जात्रा (यात्रा), गम्भीरा और कीर्तनिया

बौद्ध धर्मावलम्बियो ने अपने धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिये भारतवर्ष एव निकटस्थ देशो में कतिपय उत्सवो का आश्रय लिया था। चीनी यात्री फाहियान ने अपने यात्रा वर्णन में पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल के कुछ ऐसे उत्सवो का विस्तृत वर्णन किया है। रथयात्रा का उत्सव ऐसी ही परम्परा रही है जिसका निर्वाह उन दिनो खोतन और पाटलिपुत्र में बडी धूम-धाम से किया जाता था। इसी भाँति जगन्नाथजी की रथयात्रा अथवा अन्य यात्राएँ कालान्तर में पूर्ण आडम्बर-युक्त होकर प्रचलित होती गई। यहाँ जिस यात्रा का वर्णन किया जा रहा है, वह यद्यपि उक्त उत्सवो से भिन्न है, परन्तु जिसका सम्बन्ध बगाल के सगीत, नृत्य और नाट्य परम्परा से प्रगाढत सिद्ध है। यो नाट्य परम्परा से आबद्ध 'यात्रा' अथवा 'जात्रा' शैली धार्मिक यात्राओ से किन्ही अशो में जुडी हुई है।

जात्रा (यात्रा) का अर्थ है जुलूस या उत्सव। भवभूति कृत 'मालती माधव' में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बगाल, उडीसा और मिथिला में यात्रा की परम्परा भिन्न-भिन्न नाट्यो-नृत्याभिनयो के रूप में प्रचलित हैं। भक्तगण अपने आराध्य की उपासना के हेतु प्रारम्भ में कीर्त्तन करते और नाचते-गाते किसी विशिष्ट स्थान तक पहुँचा करते थे। आज भी मन्दिर अथवा देवस्थानो तक भक्त-मण्डलियाँ अपने उपास्य की लीलाएँ करती हुई गाँवो या नगरो के मार्ग से जाया करती हैं। कदाचित् यात्रा अथवा 'जात्रा' का यही प्रारम्भिक स्वरूप हो। श्री सुकुमार सेन ने "बगला साहित्येर कथा" में यात्रा शब्द का अर्थ देवपूजा के निमित्त आयोजित मेला, जुलूस और नाट्य-गीत बताया है।[1] आरभिक युग में नाटक और धर्म का परस्पर सम्बन्ध रहा है। कृष्ण की लीलाओ के प्रदर्शन जनपदो के अपने लौकिक नाट्यो में सदा से प्रचलित रहे हैं। यात्रा शैली में ये विषय खूब खिले हैं। प्रान्तीय भाषाओ में गीत और सवादो के माध्यम से अभिनय को जो समरस प्रदान करने वाले तत्व प्राप्त हुए हैं, वे परम्परा की सृष्टि के करने लिये पर्याप्त थे। विद्वानो का तो विश्वास है कि बीच में सस्कृत-नाट्यो की परम्परा जहाँ टूटी है, वहाँ बगाल की "जात्रा" शैली ने अपने उत्कृष्ट स्वरूप को लोक प्रचलित बनाये रखकर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।[2] इ० पी० हरविज के मत से वैदिक-काल के ऋतु-उत्सवो से सम्बन्धित नाटको का स्वरूप यात्रा के अनुरूप था। यह तो असगत सा लगता है कि वैदिक युग में यात्रा (जात्रा) का ही प्रचार था। यह कहना उपयुक्त होगा कि सभवत नाटको का लोक प्रचलित स्वरूप उन दिनो बना रहा होगा और उसी से हम आज की जात्रा का सम्बन्ध जोड सकते हैं। डा०

१ पृष्ठ १४३ पर देखिये।

२. कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ४०।

कीथ के विचारो में यात्रा नाटको में तत्कालीन लोक नाट्य की शैली जीवित है, किन्तु यह वह शैली नही है जिसका हम वैदिक नाटक से सम्बन्ध जोड़ें।[१]

आगे चलकर प्रत्येक प्रान्त में लोकनाटको की परम्पराओ का विकास हुआ। ये परम्पराएँ मूल स्वरूप में भले ही समान तत्वो की वाहक हो, पर स्थानीय रगो और धारणाओ से उनमें पर्याप्त भेद लक्षित होते हैं। यात्रा के अतिरिक्त बगाल में कविगान, कीर्तन, पाचाली और कथकता जैसी उपशैलियाँ प्रचलित रही हैं। नाटक की कोटि में यात्रा ही सर्वोपरि है और वर्तमान काल में साधारण जनता के मच की शोभा है। वैसे पाचाली अथवा अन्य गीतो को यात्रा में सम्मिलित कर लिया जाता है।

१३वी शताब्दी से १५वी शताब्दी के अन्त तक बगाल में साहित्य सृजन के प्रति शैथिल्य आ गया था। लोगो के मनोरजन तब भी बन्द नही हुए। राजनैतिक दृष्टि से मध्ययुगीन अवस्था बहुत कुछ गतिरोधात्मक थी। फिर भी लोगो में रामायण और महाभारत के आख्यान, कृष्ण-लीला सबधी गीत, मनसा, चडी, वाशुली और शिव के गीत उन्मुक्त भाव से गाये जाते थे। बगाल में तुर्कों के आधिपत्य के कारण नाटको का विकास यकायक रुक गया था। यात्रा के रूप में धार्मिक और पौराणिक कथानक लोक मच के विषय तक भी बने रहे। प्राचीन नाट्यों पर शैव मतावलम्बियो का प्रभाव था। चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से सरस-सगीतमय पदावलियो में कृष्ण लीला सबधी गीत-कथाएँ अभिनय के साथ प्रस्तुत की जानी आरम्भ की गई। इस तरह कृष्ण यात्रा का प्रादुर्भाव हुआ। इसके थोडे ही पहले चडीदास ने कृष्ण कीर्तन की रचना की थी। गुणराज खाँ ने भी 'श्री कृष्ण विजय' रचना लिखी थी। अत कृष्ण की सगुण लीलाएँ भक्त कवि की तन्मयता से प्रसूत हो बगाल, बिहार, उडीसा ही नही और भी दूर तक प्रसरित हुई। लोचनदास (सन् १५३३–१५८९) जगन्नाथ वल्लभ एव जदुनाथदास जैसे कवियो ने प्रभु का अनुसरण किया। डा० सेन ने यात्रा के विषय में लिखा है कि यात्रा के अभिनय का सर्वप्रथम उल्लेख सोलहवी शताब्दी के आरम्भ में प्राप्त होता है। उस समय चैतन्य महाप्रभु (१४८६–१५३३) का बगाल पर पूरा प्रभाव था। कहते हैं चैतन्यदेव ने स्वय अपने मौसा के घर में 'रुक्मिणी-हरण' का अभिनय किया था। यह अभिनय यात्रा की ही शैली में था। चैतन्य रुक्मिणी बने थे और उनके साथी गदाधर राधा।[२] वस्तुत यात्रा के उद्धार और प्रचार का संपूर्ण श्रेय चैतन्य महाप्रभु को प्राप्त है। १६वी शताब्दी के पश्चात् कृष्ण और राधा प्राय यात्रा के विषय बने रहे। जयदेव, चडीदास, विद्यापति एव अन्य कवियो की रचनाएँ यात्रा की भूमिका में प्रश्रय पाने लगी। वैष्णव धर्म को एक ओर यात्रा के द्वारा पर्याप्त विकसित होने का अवसर मिला तो दूसरी ओर यात्रा नाट्य ही कृष्ण लीला का पर्याय बन गया। चाहे कोई भी कथानक हो, परोक्ष-अपरोक्षत वह कृष्ण लीला से ही सबधित हो जाते थे। कहते है कि 'कालिया-दमन' सम्बोधन भी यात्रा का ही पर्यायवाची था। अत चार सौ साल तक यात्रा की यह धारा अबावगति से बगाल की भूमि पर बहती रही। महाराष्ट्र तक इसका प्रभाव आगे चल कर प्रकट हुआ। 'दशावतार' और 'यक्षगान' में यात्रा का स्वरूप ही दष्टिगोचर होता है। इसका कारण सभवत इतिहास के उस प्रसग से

१ वही, पृष्ठ १६।

२ देखिये, बगला साहित्येर कथा, पृष्ठ १४०।

जात्रा (यात्रा) का एक मृदग-वादक

कृष्णलीला पर आधारित एक मणिपुरी लोक-नृत्य

सर्वविदित है जबकि बगाल के कुछ परिवार दक्षिण कोकण में जाकर बसे थे । कोकण में जो गौड सारस्वत हैं उनका आगमन बगाल से ही हुआ था । (बगाल को गौड प्रदेश कहते भी हैं) अतएव यात्रा का सुदूर प्रान्तो में प्रचार का कारण परिवारो का एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाकर वहाँ की सभ्यता और सस्कृति से घुल-मिल जाना है ।

उडीसा में 'पटुवा' जाति के लोग अपने इष्ट की आराधना में यात्रा आयोजित करते हैं । पट का व्यवसाय ये ही लोग करते हैं । यद्यपि उडीसा में पटुवो का यह व्यवसाय नष्ट हो चुका है तथापि मूल में यह जाति चित्रकर्म किया करती थी । पटुआ सगीत पर लिखते हुए श्रीदत्त ने एक वृद्ध पटुए से सुनी हुई एक कहानी का उल्लेख किया है । उसके अनुसार पटुए विश्वकर्मा की सतान हैं । दुर्भाग्यवश आज उनकी अवनति हो गई है, क्योंकि एक बार उनके किसी पूर्वज ने शिव की अनुमति के बिना उनका एक चित्र बनाया था । शिव ने क्रुद्ध होकर श्राप दिया । तभी से पटुए मुसलमानों की भाँति प्रार्थना करते हैं और हिन्दू देवताओ के चित्र बनाते हैं ।[1] इस कथा मे निश्चय ही पटुआ शिल्पी जाति के सिद्ध होते हैं । उडीसा के पटुओ में लोक कथाएँ गानेवाले गायको का बहुत प्रभाव है । इन्ही लोगो द्वारा यात्राएँ आयोजित की जाती हैं । यात्रा में छ सात व्यक्ति होते है जिनमें गायक और वादक के अतिरिक्त रावतानी का वेष कोई पुरुष धारण करता है । वही यात्रा की नृत्य-नायिका होता है । पहले यात्रा का कर्म अव्यवस्थित हुआ करता था । उसमें चाहे जैसे नृत्य और अभिनय प्रचलित थे । १९ वी शताब्दी के अन्त में कृष्णमल गोस्वामी के प्रयत्नो से यह परम्परा कदाचित् परिष्कृत हो सकी । डॉ० डे का कथन है कि प्रारम्भ में यात्रा का सगीत पक्ष ही उल्लेखनीय था । कथोपकथन साधारण और नाटकीय तत्वो में ग्रामीणता अधिक थी । गद्य के सवादो में गीतों का अनावश्यक पुट अखरता था, यहाँ तक कि पूरे सवाद भी गीतबद्ध हुआ करते थे । यही जात्रा (यात्रा) बगाल के नाटको की पूर्वजा है ।

यात्रा का अभिनय खोल और मृदग के साथ गायको के सामूहिक गीत पर चलता है । समस्त गायक 'चोगा' नामक श्वेत वस्त्र पहनकर मच पर उतरते हैं । यह मच खुली हुई उन्नत भूमि पर अथवा किसी मन्दिर के ऊँचे चबूतरे पर निर्मित होता है । पौराणिक नाटक में नांदीपाठ की भाँति यात्रा में 'गौर-चन्द्रिका' का गायन उसी प्रकार होता है जिस तरह उत्तर भारत के लोक नाट्यो में देवताओ की स्तुति और गुरु की वन्दना । 'गौर-चन्द्रिका' का विषय गौराग प्रभु चैतन्य की वन्दना से सम्बन्धित होता है । इस परम्परा से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि चैतन्य ने यात्रा का वास्तव में उद्धार किया था । चैतन्य के पश्चात् यात्रा के ही प्रभाव मे गोपालस्वामी कृत 'विदग्धमधुवा' एव प्रेमदास कृत 'चैतन्य चन्द्रोदय कौमुदी' (१७१२) जैसे नाटको को शक्ति मिली । छोटे-छोटे सगीत नाटको में कृष्ण जीवन की झाँकियाँ एव विविध प्रसगों का विस्तार आगे चल कर होता गया ।

यात्रा के अभिनेता 'अधिकारी' के नेतृत्व में काम करते हैं । अधिकारी ही उनका निर्देशक और प्रधान नायक होता है । जिस तरह महाराष्ट्र के फडो में सरदार का अस्तित्व है उसी तरह यात्रा में अधिकारी का । जहाँ तक ज्ञात हो सका है, परमानन्द

---

१. कुंजविहारीदास, ए स्टडी आफ ओरिसन फोक लोअर, पृष्ठ ८१ ।

विनोद के स्थान पर वैष्णव धर्म के प्रचार का उद्देश्य इसमें अधिक निहित था। अकिया नाटक केवल एक अंक का नाटक होता है। यही कारण है कि उसे अंकिया कहा जाता है। शंकरदेव और गोपालदेव लोकप्रिय अंकिया नाटककार हो चुके हैं।

नाटकों की प्राचीन परम्परा अब भी लोगों में बची है। यह उल्लखनीय है कि वैष्णव धर्म के प्रचार में ब्रज के पश्चात् बंगाल, मिथिला और निकटवर्ती क्षत्रों में लोक-कला अधिक सहायक सिद्ध हुई हैं। विद्यापति और जयदेव के पदों नें लोक संगीत को शक्ति दी। धर्म नें अभिनय और नृत्य का विकास लोगों में स्वभावत: कर दिया। यात्रा और कीर्तनिया बहुत कुछ मिलें-जुले ढंग के नाटक होते हैं। सुविधा के लिये हमनें इसलिये बंगाल के लोक-नाट्यों में स्थान दिया है।

महाराष्ट्र के लोक-नाट्य

तमाशा, ललित, गोंधल, बहुरूपिया, दशावतार

महाराष्ट्र में नाटक की परम्परा का आरम्भ कब हुआ यह कहना कठिन है। किन्तु लोक-नाट्यो के अस्तित्व पर इस समस्या का कतई प्रभाव नही है। नाटको के मात्र प्राप्त होने के प्रमाणो के बावजूद भी लोक-नाट्य जनता में अपना प्रभाव जमाये रहे। सत ज्ञानेश्वर के समय मराठी नाटको के विकास की परम्परा तमाशा, गोंधल, ललित और स्वाग जैसे लोक-प्रचलित मनोरजन के साधनो से सम्बद्ध हो जाती है। 'ज्ञानेश्वरी' में (सन् १२९०) नटनटी, कलसूत्री, सूत्रधार[1] आदि के उल्लेख इस बात के द्योतक है कि महाराष्ट्र में लोक-रजन के कतिपय साधन सदा से विद्यमान रहे हैं, जिन्हें उत्कृष्ट नाटको की प्रेरणाभूमि मानकर मराठी लेखको ने सस्कृत नाटक के ज्ञान से नाट्य रचनाएँ लिखने में सहायक समझा। विश्वनाथ पाण्डुरग दाडेकर ने स्पष्ट शब्दो में मराठी नाटको के मूल में ललित, तमाशा, गोंधल, प्रभृति का महत्त्व स्वीकार किया है। यद्यपि उक्त आधार दक्षिणवर्ती आन्ध्र और कर्नाटक के नाटको के अधिक अनुरूप हैं तथापि महाराष्ट्र के अन्तर्गत उनमें कुछ ऐसे तात्त्विक परिवर्तन हो जाते है जिनमें उनकी स्वतत्र सत्ता ही लक्षित होती है। इसमें सन्देह नही कि मराठी के उदारचेता-आलोचक कर्नाटक एव निकटवर्ती प्रान्त के इस प्रभाव को स्वीकार करते हैं, किन्तु कालान्तर में जो जातीय ढग सहज विकसित हुआ वह द्रष्टव्य है।

निम्नलिखित पाँच नाट्य प्रकार मराठी रगमच के आधारस्रोत है —

(अ) तमाशा
(आ) ललित
(इ) गोंधल
(ई) बहुरूपिया
(उ) दशावतार

(अ) तमाशा

तमाशा महाराष्ट्र का शताब्दियो पुराना लोकनाट्य है। आज भी ग्रामो में मेले-ठेले अथवा उत्सवो के अवसर पर तमाशा आकर्षण का प्रधान विषय है। यह लोकरजन का महत्त्वपूर्ण साधन रहा है।

तमाशा करने वाली मडली 'फड' कहलाती है। फड का मुखिया जो दिग्दर्शक एव सचालक दोनो ही होता है, महाराष्ट्र में सरदार कहलाता है। सरदार 'कडिया' (ढफ अथवा चग बजाने वाला), ढोलकिया, 'सोंगडिया' (स्वाग करने वाला—विदूषक),

---

१ साईखडियाचें काई। प्रायंवें सूत्रधराते (अ० ९–३०) की साईखडियाची गली। सूत्रतंतु (अ० १५–३६५)।

खूबसूरत, नचिया, नर्तकी अथवा नाचनेवाला एव 'सुरतिया' (स्वर भरने वाला) को एकत्र कर अपना दल सगठित करता है। नर्तकी तमाशा का प्राण होती है। वह अपने सपूर्ण शृगार के साथ जनसमूह के समक्ष प्रगट होती है। विशेष भाव-भगिमाओ सहित वह परम्परागत धुनो में ऐहिक शृगारपरक लावनियाँ अथवा वीरो के कीर्ति-काव्य पवाडे या अन्य गीतो को गाती है। उसके साथ 'ढफ' और 'तुनतुन्या' जैसे ग्रामीण वाद्यों के बजाने वाले खास ढग से अभिनय करते है और बीच-बीच में नर्तकी के गीतो को पक्तियाँ झेलकर उन्हें आवाज बदल-बदल दुहराते है। इस प्रवत्ति का कुछ अश 'सोंगड़िया' को भी प्राप्त है। वह भी बीच-बीच में व्यग करता है अथवा विनोदी अभिप्रायो से हास्य का पुट देता जाता है। जहाँ फड में स्त्रियाँ नही होती वहाँ नर्तकी का कार्य पुरुष नर्तक को ही करना पडता है। गीतो के विषयानुकूल नर्तकी को क्षण-क्षण में कभी माननी, कभी पत्नी, कभी वियोगिनी और कभी प्रेयसी का अभिनय करना पडता है।

तमाशा प्राय गणपति की स्तुति से आरम्भ होता है। यह स्तुति 'गण' कहलाती है। 'गण' के पश्चात ही 'गवलन' नामक प्रचलित लोकगीत गाये जाते हैं। इसके साथ ही शृगार प्रधान लावनियो से तमाशा उठाव पर आता है। इन तमाशो के अन्तर्गत जो कथाप्रधान अश प्रस्तुत किये जाते हैं उन्हें 'वग' कहते हैं। 'वग' सवादात्मक होते है। पात्र वस्तु की रूपरेखा को ध्यान में रख कर ही बिना पूर्व तैयारी के सवाद वोलते हैं। यो तमाशा का सरदार प्रारम्भ में 'वग' की कथा-वस्तु निश्चित पात्रों को समझा देता है। अतएव सवाद कौशल के साथ ही पात्रो को अपनी तुरत-बुद्धि से वस्तु का निर्वाह तो करना ही पडता है, पर पूरे हाव-भाव के साथ चरित्र-निर्वाह भी आवश्यक हो जाता है। 'वग' की कथावस्तु ऐतिहासिक सामाजिक, लौकिक, धार्मिक एव समयानुकूल होती है।

तमाशा के अन्त में 'भेदिक' गीत गाये जाते हैं। गूढ विषयो की चर्चा अथवा दृष्टकूटो-सी प्रवृत्ति इन गीतो में लक्षित होती है। प्राय प्रहेलिकाओं-सा गोपनीयतत्व प्रश्न रूप में ये गीत प्रस्तुत करते हैं। आध्यात्मिक विषयो के अतिरिक्त लौकिक विषयो का समावेश इनमें अधिक होता है। यदि कही दो 'फडो' की प्रतिस्पर्द्धा हो गई तो भेदिक गीत बडे काम के सिद्ध होते हैं। एक 'फड' के प्रश्न को दूसरा 'फड' चुनौती के रूप में स्वीकार करता है। प्रतिस्पर्द्धा में तुरन्त उत्तर अपेक्षित है। तमाशों में प्रतिस्पर्द्धा का ऐसा स्वरूप कभी-कभी कलगी-तुर्रा[1] के गीतो को ही अपने जवाब-सवाल का आधार बना लेता है। तब प्रत्युत्पन्नमति के लोक गायको की बन पडती है और उन्ही के बल पर 'फड' विजयी होते हैं।

तमाशा साधारण मच पर होता है। वास्तव में मामूली ऊँचाई उसके लिये पर्याप्त

---

१ 'कलगी तुर्रा' प्रश्नोत्तर शैली की लोकगीत परम्परा है। महाराष्ट्र में इसका प्रचार रहा है। उत्तर भारत में भी कहीं-कहीं इस शैली के दल अभी मिलते हैं। कलगी, अखाडा आदि शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है और 'तुर्रा' अखाडा 'शिव' को सर्वोपरि मानकर अपने पक्ष को 'कलगी' पक्ष से बडा बताता है। 'कलगी' दल का कहना है कि आदिशक्ति ही शिव की उत्पत्ति का कारण है। अत शिव पुत्र हैं। किन्तु तुर्रा पक्ष शक्ति को शिव की पत्नी घोषित करता है। प्रश्नोत्तर का आधार यही दर्शन है।

है। विना किसी लम्बी चौडी व्यवस्था के तमाशा आयोजित किया जाता है। आरम्भ में 'ढफ' और 'तुनतुन्या' के वजइये तथा 'सुरतिये' मच पर आकर श्रोताओ को मुजरा करते हैं। यही से तमाशा का सगीत आरम्भ होता है और फिर क्रमश नर्तकी तथा फड के अन्य सदस्य प्रवेश करते हैं। नर्तकी के अतिरिक्त शेष व्यक्तियो की वेषभूषा साधारण होती है। नर्तकी पूरा ठाट वनाती है। सोलह हाथ की साडी पहनकर ऊपर से वह चाँदी का कमरवन्द वाँवती है। नाक में नथ, ठीक से गुथी हुई वेणी तथा पैरों में घुघरुओ के साथ वह अन्य आभूषण भी धारण करती है।

तमाशा के पात्र और श्रोताओं के वीच विशेष दूरी नही होती। नैकट्य की ऊष्मा दोनो पक्ष अनुभव करते हैं। अपेक्षित सामग्री श्रोताओ को तमाशाकारो से मिल जाती है। प्राय छोटे-छोटे पद्य एव पद्यात्मक सवादो द्वारा कई कथानक एक ही अवसर पर प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कभी-कभी तो सामयिक प्रसगो की झाँकी स्थानीय विशेषताओ के साथ पूरे ठाट से श्रोताओ का मनोरजन करती हैं।

उत्पत्ति का निर्णय

'तमाशा' फारसी शव्द है। मराठी में यह शव्द एक विशिष्ट् प्रकार के मनोरजन के अर्थ में प्रचलित है। महाराष्ट्र के लोक गायक रामजोशी (सन् १७६२–१८१२) का नाम इसी नाटच के साथ सम्वद्ध है। क्योकि रामजोशी के काव्य ने ही उसे ऊँचा उठाकर महाराष्ट्र में प्रतिष्ठा प्रदान की। मराठी में 'शाहिरी' वाङ्मय का सम्वन्ध अधिकाश में इसी लोकनाटच से है। प्राचीन काल में कारोमण्डल किनारे पर अरव व्यापारियों का वहुत आवागमन था। उन्होने भारतीयो के खेल अवश्य देखे होगे और वहुत सम्भव है उन्होंने पहली वार इन खेलो को 'तमाशा' कहना शुरू किया हो। यद्यपि भारतीयो को यह शव्द मालूम था, तो भी वे स्वय इस शव्द का उपयोग नही करते थे। मेलो और त्योहारो के अवसर पर जो लोकनाटच खेला जाता था उसे पुराने कागज-पत्रों में 'गम्मत' कहा गया है। इस 'गम्मत' का वडा आदर था और गाँव-गाँव में पाटील या कुलकर्णी (पटवारी) के पास इस गम्मत के लिये काफी रकम अलग रखी जाती थी। गाँव के चमार, कुम्हार, धोवी आदि वारह आदमियो का जत्या विविध अवसरो पर 'गम्मत' का खेल करता था। कालान्तर में 'गम्मत' के वदले खेल-तमाशा शव्द रूढ हुआ और कम-से-कम १२ वीं शताव्दी (ज्ञानेश्वर के काल) से वह प्रचलित है। ग्यारहवी शताव्दी की 'महिकावती की तवारिख' में शायरो का स्पष्ट उल्लेख है, और 'तमाशा' के गीतका ो को वाद में जो 'शाहिर' नाम प्राप्त हुआ वह 'शायर' शव्द का ही अपभ्रश है।[1] कवीर ने भी स्वाग और तमाशा का उल्लेख एक स्थान पर किया है—

> कया होय तहं स्रोता सोवे वक्ता मूड पचाया रे।
> होय जहाँ कहीं स्वाग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे ॥

मराठी के विद्वान गणेश रगनाथ दडवते के मत मे तमाशा कन्नड़ के लोकनाटय का एक रूप है। क्योंकि कन्नड का एक तमाशा महाराष्ट्र के तमाशा से वहुत मिलता है। कन्नड सस्कृति की प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए यह मभावना

---

१. राष्ट्रवाणी, जुलाई, १९५६, द० परचुरे का लेख, पृ० ३९–४०।

ग्राह्य हो सकती है।[1] 'तमाशा' के पहले महाराष्ट्र में लोकनाट्य का स्वरूप क्या था, यह भी प्रश्न सामने है। गणेश रगनाथ दडवते के अनुसार यह परम्परा 'गोंधल' नामक धर्मप्रणीत नाट्य से विकसित हुई प्रतीत होती है।[2] 'शाहिर' कवियो ने इसे पुष्ट किया है। यदि इसे कन्नड नाट्य का विकृत रूप भी स्वीकार किया जाय, तो इसमें सन्देह नही कि महाराष्ट्र ने इस पर अपना ऐसा गहरा रग चढाया है कि उसे एक स्वतत्र लोकनाट्य ही कहा जा सकता है।

अन्तत यह स्पष्ट है कि 'तमाशा' की परम्परा १६ वी शताब्दी के पूर्व से प्रचलित है। मुसलमानो के आगमन के पूर्व महाराष्ट्र में अपनी ग्रामीण नाट्य परम्पराऐं रही हैं। इन्ही परम्पराओ पर आगे चल कर बाह्य प्रभाव लक्षित हुए, किन्तु ये सभी प्रभाव महाराष्ट्र की जातीय परम्पराओ में इस तरह घुल-मिल गये कि उन्हें अलग नही कहा जा सकता।

उत्कर्ष

पेशवाओ के काल (१८ वी शताब्दी) में 'तमाशा' अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। प्रधानत सवाई माधवराव और बाजीराव (द्वितीय) के समय इसे खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। मराठो के राज्य ज्यो-ज्यो दृढ होते गये, ऐश्वर्य और विलासिता के कारण मनोरजन के विभिन्न साधनो को प्रश्रय मिलता गया। मराठो की सेनाओ के साथ गायिकाओं के दल जाया करते थे। एक ओर तलवार की तेजी थी और दूसरी ओर ऐहिक श्रृगार की सामग्री। लावनी और ख्याल छन्दो में तमाशा खिलता गया। उत्तर भारत में मराठो का ज्यो-ज्यो सपर्क दृढ हुआ 'तमाशा' अपने रूढ़ अर्थ में अधिक प्रसिद्ध होता गया। रामजोशी, अनदफदी, होनाजी, बालाजी, सगनमऊ प्रभाकर, परशुराम आदि लावनीकार शाहिर कवियो की श्रृगारी रचनाओ से तमाशा पुष्ट हुआ और अमीर-गरीब सभी का प्रिय मनोरजन हो गया। ये सभी कवि १८वी और १९वी शताब्दी के मध्य हुए। प्राय प्रत्येक शाहिर कवि के पीछे स्वतत्र 'फड' (दल) हुआ करता था। सभी फड अपने-अपने शाहिर की रचनाऐं गाते थे। लावनी छद की प्रसिद्धि का कारण फडो की परम्परा का होना है। ये 'फड' निमत्रण पर तमाशो का आयोजन करते और सर्वसाधारण के साथ-साथ सामतो और श्रीमानो का मनोरजन करते थे। १९वी शताब्दी के पूर्व मराठो का खूब उत्कर्ष हुआ। सामाजिक जीवन के श्रृगारपरक एव हृदयस्पर्शी प्रसग लावनियो के विषय बने। मुहिम पर जाने वाले सैनिको की प्रियाओ के झुरने, विरहावस्था में अपने पिता के घर तडपने और पुर्नमिलन की प्रतीक्षा में अपने हृदय को सम्हाले रखने के चित्र तमाशा में प्रयुक्त होनेवाली लावनियो में उभरे। सामान्य जीवन की सरस व्यन्जनाऐं तमाशा के साहित्य में लोक-साहित्य सी अछूती और नैकट्य की ऊष्मा से भासित हुई।

बताया जाता है कि लावनी की उत्पत्ति केवल तमाशा के लिये हुई। श्री सरवटे ने लिखा है—"मराठी का शाहीर शब्द मूलत अरबी के 'शायर' जिसका अर्थ कवि है, को मराठी पहनावा पहना कर उपलब्ध किया गया है। उसी प्रकार शाहीर की

१ महाराष्ट्र नाट्यकला व नाट्य वाङ्मय, पृ० १५।

२ वही।
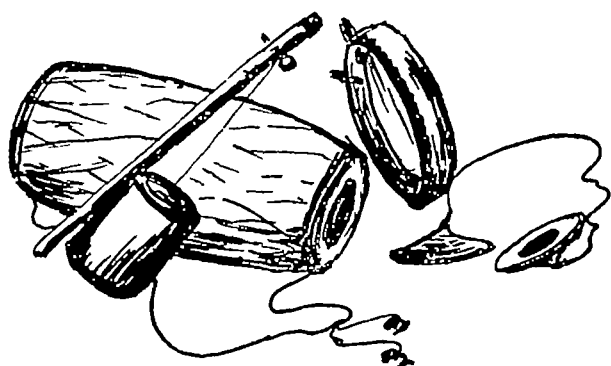
'तमाशा के वाद्य'

★

'तमाशा' पूर्ण होने पर आमदनी का बँटवारा

की 'लावनी' मराठी कल्पनाओ, सस्कृत की उपमाओ एव मधुरवृत्त के सयोग से सृजित हुई है।[1] लोक-कवियो की यह परम्परा ऐहिक शृगार में डूबी हुई थी। लावनी के साथ 'पवाडा' छद का प्रचार हुआ। दोनो छदो की विषय-वस्तु ठीक एक-दूसरे के विपरीत है तथापि तमाशा में लावनी ही अधिक स्थान पाती रही। प्रभाकर की एक लावनी में नारी का शृगारपरक रूप देखिये—'लाव लचक वेणी, विगुन त्रिवेणी, घरघेणी अवतरली। वुचड्याचा आवी झोक, त्यामध्ये ठेवी कोक नोक, झोक भर पुरली। सुकुमार नार, फारगुले अनार, शाल दुशाला पाघरली। रावडी केतक कुहरी, वीर नक्शीदार लह ी, केवड्याची घडण शहरी, मु द चन्द्रकारे ाहरी, देती चन्द्र सूर्य वहारी, सारी ज्ञान केवल लाहरी। अचलुन धरी निरी, तसु तनुवर चिरी, खरी खुरी परी नटली। अशी असीन करि कोकिल किजविज, आकसची विज तुटली।'[2]

ऐसी लावनियाँ अपनी पूरी सचाई के साथ उन भावो को लिये हुए है जो मानव की मूल प्रवृत्तियो को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखते है। 'शाहिरी' साहित्य में ऐसी अनेक लावनियाँ तमाशा की वेजोड सम्पत्ति है। सामान्य जीवन के विषय, लोगो के मनोभावो को गहराई से छूते हुए इनमें मिलते है। लोक-जीवन के परम्परागत विश्वास, प्रणय-चेष्टाएँ, नारी के शृगारपरक चित्र, नायको की सहजजन्य मस्ती और तत्कालीन समाज की खूबी तमाशा नाट्य की प्रचलित रचनाओ में उपलब्ध है। आगे चल कर महाराष्ट्र के घर-घर में मतवाले शाहिरो की लावनाइयाँ गूजने लगी और मादक धुनो के माध्यम से तमाशाकारो ने उनमें ऐसा प्रभाव पैदा कर दिया जो आज तक सजीव भासित होता है।

इन दिनो तमाशा न केवल महाराष्ट्र के गाँवो की वस्तु है, वल्कि नगरो के थियेटरो तक में आधुनिक मच की सुविधाओ को पा कर सर्वसाधारण का हृदयहारी मनोरजन वन गया है। वाजीराव पेशवा के कारण उत्तर-भारत में भी महाराष्ट्र के लावनीकारो के स्वर गूजे। प्रभाकर और पट्ठे वावूराव ने तो हिन्दी में भी कुछ लावनियाँ रची। हिन्दी में प्रचलित लावनी छद के पृष्ठ में महाराष्ट्र के इन शाहिरो का वडा हाथ है। १९वी शताब्दी के आरम्भ में तमाशा की लावनियाँ अति शृगारिक हो चलीं। उनमें अश्लीलता का पुट आ गया। परिणामत मध्य-वर्गीय समाज का एक वडा भाग उसके प्रति अपनी दिलचस्पी खो बैठा। उसे निम्न-श्रेणी का मनोरजन समझा जाने लगा। सद्गृहस्थ उसे अपमानजनक समझने लगे।२ यद्यपि अग्रेजो के काल में तिलक एव महात्मा फुले जैसे व्यक्तियो ने लोक-नाट्य के इस प्रकार को सामाजिक एव राजनैतिक प्रचार का साधन वनाया था। ४२ के आन्दोलन में भी सका उपयोग हुआ। राष्ट्रसेवादल तथा साम्यवादियो के सास्कृतिक

---

१ मराठी साहित्य समालोचना, पृ० २०।

२ लम्बी लचकदार त्रिवेणी गूँथे हुए स्वामिनी प्रिया अवतरित हुई। वालो का शोभाशाली जूडा जिसमें कोकर्णोक लगा हुआ है, पूर्णत झुका जा रहा है। गुले अनार-सी, सुकुमार नार शाल दुशाला धारण किये है, रासडो, मुंदरी तथा चन्द्र सूर्य की वहार उस पर शोभा दे रहे थे। अपनी साडी को ऊँचा उठाये जिसमें स्थान-स्थान पर पट्टे लगे है, यथार्थत. परी की भाँति वह सजी हुई है। ऐसी सुन्दर होकर भी वह कोकिला की तरह कूजन करती है। वह मानो आकाश से टूटी हुई विजली है।

मडलो ने तमाशो के द्वारा जन-जीवन के विचारो में परिवर्तन करने का भरसक प्रयत्न किया। तमाशा पर अश्लीलता का आरोप अब धीरे-धीरे कम होने लगा है। कुछ काल पहले 'महाराष्ट्र तमाशा परिषद' की स्थापना हुई है। उसमें तमाशा को परिष्कृत करने के लिये विचार किया गया। निश्चय ही मराठी का यह लोक-नाट्य पुन अपना महत्त्व पा रहा है।

(आ) ललित

ललित मध्ययुगीन धार्मिक मच है। ललित की उत्पत्ति के विषय में श्री रगनाथ दडवते लिखते है कि १९वी शताब्दी के प्रारभ में बम्बई निवासी दादापत नामक मराठे ने ललित का अभिनय करना आरम्भ किया। दादापत ने पूना के प्रख्यात सावजी मल्लपा, बडौदा के बाघोजी बुवा और बम्बई के पाटली बुवा को अप-अपने ललितदल सगठित करने की प्रेरणा दी। इतना ही नही, तीनो व्यक्ति दादापत के पास बहुत दिनों रहे और उन्होने ललित का यथोचित अभिनय सीखा है। इससे ज्ञात होता है कि ललित बहुत पूर्व की वस्तु है। सत तुकाराम के एक अभग में ललित का उल्लेख इस प्रकार आया है—

"गलित झाली काया।
हेंचि ललित पंढरिराया॥"

शास्त्रीय कोष (मराठी) में ललित का अर्थ—"नवरात्रादि सम्बन्धी कीर्तन विशिष्ट जे उत्साह त्याचे अतिम दिवशी रात्रो उत्साह देवता सिंहासनारूढ़ झाली असें कल्पून, वासुदेव, दडीगाण। ईश्वर भक्ताची सोगे आणून त्यासोंगानी स्व० सम्प्रदायानुरूप देवापाशी प्रसाद मागावा आणि तो सर्व सभासदास वाटावा असा जो हरिदासजन कीर्तन-विशिष्ट समारभ करितात ते"—दिया हुआ है। तात्पर्य यह है कि ललित नवरात्रि सम्बन्धी विशिष्ट कीर्तन है जिसमें अतिम दिन उत्साह देवता सिंहासन विराजे यह कल्पना कर, ईश्वर भक्तो आदि के स्वाग आदि लिये जाते है तथा देवता से प्रसाद प्राप्त करने का अभिनय कर उसी प्रसाद को दर्शको में वितरित किया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ललित में कीर्तन की मात्रा क्रमश घटती गई और कालान्तर में स्वाग सम्बन्धी विशेषताएँ ही नाटकीय रूप में प्रचारित हो गई। इस प्रकार कीर्तन का सम्बन्ध ललित से छूट गया और लोग ललिताभिनय को ही मनोजन का स्वतन्त्र विषय समझने लगे।

मराठी के विद्वानों का स्पष्ट मत है कि ललित ने पौराणिक एव ऐतिहासिक

---

१ गणेश रगनाथ दंडवते ने एक सोलापुर निवासी नाना नामक 'नाच्या' (मुख्य पात्र) की एक कहानी अपनी पुस्तक में उद्धृत की है। नाना बडे बाप का पुत्र था। तमाशाकारो की सोहबत में पडकर वह नर्तक हो गया। एक बार उसके पिता ने तमाशा देखा। नाना (नाच्या) की कला पर मोहित होकर उन्होंने एक शाल उसे भेंट की। वह यह जान भी न सके कि अपने पुत्र को ही उन्होंने पुरस्कार दिया है। घर पर आकर देखा तो वही शाल ओढ़कर उनका पुत्र सो रहा है। वास्तविक स्थिति ज्ञात होने पर उन्होंने विषपान कर लिया।

२ देखिये महाराष्ट्र नाट्य-कला व नाट्य वाङ्मय, पृष्ठ ४-५।

नाटको को जन्म दिया, क्योंकि अपने उत्तर मध्यकालीन युग में ललित ही ऐसा प्रदर्शन था जिसमें पौराणिक एव लोक प्रचलित अथवा ऐतिहासिक धर्मोन्मुखी कथाएँ नाटक का आधार बन सकी। तजोर के नाटको का प्रभाव ललित पर बताया जाता है, क्योकि नवरात्रि के पश्चात् जो लोक-नाट्य तजोर में किये जाते हैं, वे प्राय इसी प्रकार के होते हैं। नादी और गणपती का प्रवेश अनिवार्य है। हावभावो के अतिरिक्त सवादों का माध्यम कथानक को आगे बढाता है। ललित में पद्य का बाहुल्य होता है, पर गद्य का प्रयोग भी कम नही होता। बालकृष्ण लक्ष्मण पाठक की 'ललित सग्रह' नामक एक पुस्तक उपलब्ध है। उसमें ललित स्वागो के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। श्री विनयमोहन शर्मा ने उन उद्धरणो को पढ कर इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया है कि महाराष्ट्र में हिन्दी नाटको के विकास के पूर्व ही हिन्दी गद्य का गहरा प्रभाव इन ललितो पर पड चुका था। उद्धरणो से सिद्ध होता है कि दो-तीन शताब्दी पूर्व दक्षिणी हिन्दी शाखा ने उत्तर की ऐसी पर्याप्त नाटक सम्बन्धी विशेषताएँ ग्रहण कर ली थीं। 'महाराष्ट्र नाट्यकला व नाट्य वाङ्मय' ग्रन्थ से ललित के कुछ अश प्रस्तुत हैं —

छड़ीदार का प्रवेश

"निर्गुण निराकार, जिनका सब सृष्टीकू आधार, जिनके नीति से वेद बने चार, उस साहेब कू मुजरा करूँ नजर रख्यो मेहरबान, साबुसत सुजान, मेरे जबाब पर रख्यो ध्यान, कहे बदा रामजी अज्ञान, सब साधु सज्जन कू मुजरा करूँ ऐसे महाराज निर्गुण-निराकार, उन्ने लिये दशअवतार, किया दुष्टन का सहार, वो दीनोद्धार महाराज है मेहरबान सलाम"

पाटील—आप कौन हैं ?

छडीदार—हम छडीदार, पोशाख पेहना जडीजरतार, धीट शेलासे बाधी कमर, गले में डाला भाव मोतन का हार, ग्यानध्यान की बांधी तलवार, भूतदया ये ही बरछी कमर में, हातमो क्षमा यही छडी गुलजार, खडा रहूँ साहेब के द्वार, भगवान के नाम की पुकारूँ ललकार, ये ही हम छडीदार कहलाते है।

पाटील—तुमने कहाँ नौकरी बजाई ?

छडीदार—दश अवतार में।

पाटील—कौन से दश अवतार में ?

छडीदार—मच्छ, कच्छ, वराह इत्यादि महाराज के दश अवतार में नौकरी बजाई।

पाटील—मच्छ अवतार में कैसी नौकरी बजाई ?

छडीदार—पैदा हुआ सागर से, शखासूर नाम कहलाते उसे, उसने धूम मचाई देवताओ से, वेद छीन लिए ब्रह्मा से, सागर में छुप रह्यो, सागर में छुपाये वेद चार, तब सब सुर ब्रह्मा मिल किया विचार, गये क्षीरसागर साहेब के द्वार, बताया हाल शखासूर का, तब भगवान ने लिया मच्छ अवतार, शखासूर मार वेद छीन लिये चार स्वधर्म की स्थापना करके मच्छ अवतार सलाम किया। वहाँ की नौकरी छोड़ चले आये।

(इसके पश्चात् दश अवतार का वर्णन और छडीदार, चोबदार आदि के स्वाग) छड़ीदार के पश्चात् भालेदार आकर इस प्रकार अर्ज करता है —

अर्ज सुनिये महाराज, आप गरीब नवाज, मालक सबके सिरताज, लाज रख्यो दास की। खाया ८४ का फेर, देख आया जम से मेर, उबर नही सब ठेर, नजर रख्यो मेहर की। चवदा भुवन सात ताल, स्वर्ग, मृत्यु और पाताल, देखे बड़े-बड़े भूपाल, सब पर झडप काल की। चार लोक चार धाम, छ दर्शन दास नाम, कोई पाया नही राम, कीरत सुनियो आप की। आपन सुगुण ओकार, हम तो शून्य का विस्तार, भरा बोध का दरबार, विचार शोभा सात की। खुश हो गये सरकार, दे दिया गले में हार, सिर पर पटका जरीजरतार, पेरण कुसुबीलाल, दी कमर को शाल, माला दिया ग्यान का, सब दियो शिणगार, शमला, तोडा, कटियार, खडे सज के भालदार, नौकरी दी पास की, यादव करते हैं सलाम, मजलिस सतो की तमाम, मेहर रख्यो सुबोशाम, अरज सुनिया दास की।

(इस तरह 'ललित' नाट्य का विस्तार होता है। विदूषक बीच-बीच में आकर हास्य की सृष्टि करता है। पाटील और अन्य पात्रो के बीच तज्जनित सवाद होते हैं।) हरिदास इस प्रकार अपना स्वाग करता है—

'भजमन नारायण नारायण नारायण भज मन नारायण। श्लोक।
अष्टादश पुराणानि कवीना द्वयम्। परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीड़नम्॥
आ हा! महाराज, ज्या कालाच्या ठायी कली अन्नमय प्राण – स्वयें विष्णूनें गोकुलात अवतार धारण केला – 'तो हा नदाचिया घरी, उबरा चढता टेका घरी' इत्यादि'[1]।

(इ) गोंधळ

गोधळ की प्रथा धर्म मूलक है। नामदेव के पूर्व से ही यह प्रथा चली आ रही है। क्योकि नामदेव द्वारा रचित एक स्वतत्र अभग 'गोधळ' के नाम से प्राप्त है। गोधळ' प्रथा महाराष्ट्र में अनुष्ठानिक महत्त्व रखती है। इस अनुष्ठान को यथाविधि सम्पन्न करनेवाले लोगो की जाति ही गोधळी नाम से विख्यात है। प्रारभ में कहा गया है कि तमाशा के अन्तर्गत 'पवाडे' भी कहे जाते है। यही पवाडे गोधळ के अन्तर्गत देवी-देवताओ की स्तुति एव यशोवर्णन के रूप में प्रचलित रहे हैं। गोधळी पहले पाँच देवी-देवताओ की स्तुति करता है, तत्पश्चात् किसी कथा-प्रसग को आरम्भ कर किसी चरित्र का वखान करता है।

शब्दार्थ की दृष्टि से गोधळ का तात्पर्य गडबडी अथवा अव्यवस्था से है। अम्बा गोधळ की विशिष्ट देवी है। गोधळी गीत गाते समय अम्बा के समक्ष नृत्य करता है। इस आयोजना के साथ नकल और स्वाग भी जोडे जाते हैं। कदाचित् इसीलिये नाट्य के मिले-जुले रूप को देख कर यह धर्म प्रधान अनुष्ठानिक मनोरजन गोधळ कहा जाने लगा हो।

विवाहादि अवसरो पर गोधळ की व्यवस्था की जाती है। मडप के नीचे 'खण' नामक चोली का वस्त्र बिछाकर, आम्रपत्रो और कलश सहित अम्बा की प्रस्थापना करने के पश्चात् गोधळी गोधळ आरम्भ करता है। पवाडे आदि ग्राम्य वाद्यो के साथ पूरे उत्साहपूर्वक कहे जाते हैं। इस प्रकार सगीत एव धर्म के बहाने नाट्य तत्त्वो की अभिव्यजना होती है।

१—पृ० ५-८।

गोंधळ के स्वाग मनोरंजक होते हैं। पाटिल बुवा और गोंधळी की आरम्भिक बातचीत के पश्चात् इस प्रकार गोंधळ का आरंभ होता है—

सुदिन सुवेळ तुझा मांडिला गोंधळ हो।
पंचप्राण दिवट्य दोन्ही नेत्राचे हिलाल हो।। घृ ।।

घटस्थापना केली तढरपुर महाद्वारी हो। आकाशी मंडप दिवला ते नेत्री ताला-वरी हो। वैसली देवता पुढे वैष्णवाचें गाणें हो। उदोकार गर्जती गला तुळसीचें भूषण हो।।

असे गोंधल कुठें-कुठें पडले होते ? तुलजापुरी कौंडनपुरी वर कथा कोणची लावू यजमान ? काल्या चाफ्याची ? वा आग्न पासोड्याची ? का जायाराणीची ?

पाटील—जायाराणीची

गोंधली—ठीक आहे नमो गणपती, नमो श्रोताया, नमो माझ्या हरिवासु नारायणा हो। हा, हा, हा, कथा एका आता अमुक फलाण्या गावचा राजा राजा जी जी, राजा विसताऱ्या गावी गेला जी जी, त्याराजाचें काय वा नाव नाव जी जी, ते कोण्या वेटयाला ठावें ठावें जी जी, एक सौदागर राणी राणी जी जी, तिचे नाव जयाराणी राणी जी जी जयाराणी नें सिणगार केला जी जी, नेसली जरी जरितारी पाटोलाजी, अंगी मदनाची काचोली जी जी, पाची विचव्याचा भुणत्कार कारजो, आपला पति ओवाळितेदव जी मोरगावच्या मोरवा ठानकाजा, जेजुरीच्या खंडोवा ठानका जा?[1]

इस प्रकार के प्रसंग प्राय गोंधळ आरम्भ करने के पहले प्रस्तुत किये जाते हैं। पुजारी की नकल करते समय कभी-कभी हास्य की सृष्टि होने की पूर्ण सम्भावना होती है। पूजा—"अय श्री क्राफर्ड साहेव वार्षिक समारंभस्य, इंग्लिश एसफेंस अवतारस्य अद्य शके १०२ साजपट साहेव नाम संवत्सरे आदि।" कभी-कभी तत्कालीन व्यक्तियों के प्रति सामाजिक धारणाओं की अभिव्यक्ति होती है। कथा की सूत्रबद्धता ललित जैसे लोक-नाट्य से सम्भव नहीं। यहा की घटना और वहाँ की घटना यहाँ प्रस्तुत करना कठिन नहीं है।

(ई) बहुरूपिया

मुगलों के दरवार में बहुरूपिया का बहुत स्वागत होता था। बहुरूपिया जैसा कि शब्द से ही ज्ञात होता है, वह व्यक्ति होता है जो भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सके। स्वाग और बहुरूपिया में इतना ही अंतर है कि स्वाग में एक से अधिक व्यक्ति होते हैं जब कि बहुरूपिया स्वतंत्र रूप से भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। मध्य-काल में बहुरूपिया एक धंधा हो गया था। रूप बनाने की प्रथा भारतीय संस्कृति में अन्य नाट्यों की भाँति नवीन वस्तु नहीं है। वरकतउल्ला द्वारा १७ वीं शताब्दी में लिखित 'प्रेम-प्रकाश' में रूप भरने का उल्लेख आया है। वैदिक काल में भी यह प्रथा विद्यमान थी। कठोपनिषद् के 'रूपं रूप प्रतिरूपो बभूव' से यह प्रमाणित होता है। यह प्रथा न केवल महाराष्ट्र का विषय है बल्कि उत्तर-भारत में भी उदर-पूर्ति के हेतु रूप भरनेवाले लोग गाँवों या नगरों में दीख पडते हैं। चूँकि मुगलों की देखा-देखी मराठों के दरवारों में भी इस कला को यथोचित प्रोत्साहन मिला है, अत मराठी नाटकों के पार्श्व में इसका प्रभाव भी स्वीकार करना होगा। बहुरूपिया के संबंध में अनेक लोक कथाएँ प्रचलित हैं। अकबर के दरवार में कई बार बहु-रूपियों ने कौशल दिखाये। पेशवाओं ने भी इस कला को बहुत प्रोत्साहन प्रदान किया। वस्तुत. मराठी नाटक के विकास के पूर्व इसका भी अपना योग अवश्य है।

---

१ वही, पृ० ९–१०।

अन्य लोक नाट्यो में 'दशावतार' का महत्व उल्लेखनीय है। भैरव-नाथियो द्वारा 'भराडी' और 'चित्रकथी' का प्रदर्शन भी किन्ही अशो में द्रष्टव्य है। अतिम दो प्रकार अब बहुत कम देखने में आते हैं। 'दशावतार' अभी भी ग्रामो में लक्षित किया जाता है।

(उ) दशावतार

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व महाराष्ट्र के दक्षिण कोकण और गोवाक्षेत्र के पूर्व प्रचलित नाटकों में दशावतार का बडा प्रभाव था। कथाकली नृत्य और दशावतार में पर्याप्त साम्य है। इसमें कथाकली की भाँति पर्दे के पीछे से गीत न गा कर मच पर ही सूत्रधार के द्वारा गाये जाते हैं। पात्रगण मूक अभिनय के स्थान पर खुलकर सवाद बोलते हैं। नृत्य की वेशभूषा सभवत कथाकली से ही ग्रहण की गई है। पात्रो का मच पर आगमन भी नृत्य करते हुए नाटकीय ढग से होता है। तालबद्ध गमक दोनो में प्राय समान है। कर्नाटक में प्रचलित यक्षगान से भी दशावतार की तुलना की जा सकती है। इसका कुछ प्रभाव बगाल के यात्रा-नाटको में भी लक्षित होता है। मामा वरेरकर के मत से बगाल के गौड ब्राह्मणों के कतिपय कुटुम्ब इधर आ बसे थे जिनके सम्पर्क से यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान सम्भव हुआ। कही-कही अभी भी दशावतार को महाराष्ट्र में जात्रा (यात्रा) से ही कहा जाता है।

महाराष्ट्र के पौराणिक नाटक बहुत कुछ दशावतार के निकट रहे हैं। पौराणिक नाटको का आरम्भ सूत्रधार से होता है। प्रारम्भ में वह गणपति का आह्वान करता है और तदनन्तर सरस्वती की वन्दना। मच पर दोनो देव-चरित्र वाद्यो की निर्धारित वादन-शैली का अनुसरण करते हुए आते है। दशावतार में जैसा कि बताया गया है, पात्रगण नृत्य करते हुए प्रवेश करते हैं। पौराणिक नाटको के पात्रप्रवेश का ढग इससे थोडा भिन्न है। दोनो नाटक शैलियो में विदूषक अपनी भाव-भगिमाओ से दर्शकों का मनोरजन करता है। दशावतार का विदूषक स्वय को 'महादवी' कहता है, जो सस्कृत के 'माधव्य' का अपभ्रश है। दशावतार में एक और पात्र हास्य की सृष्टि करता है। वह है 'शखासूर'। गणपति और सरस्वती ज्यो ही मच पर से जाते है, वह नाचते हुए आ कर दक्षिण के कोकण की 'कुडाली' अथवा 'मालवणी' भाषा में सूत्रधार से बातचीत करता है। शखासूर ब्रह्मा से तीन वेद चुराता है। उन्हें पुन प्राप्त करने के लिये सूत्रधार देवताओ का आह्वान करता है। उस समय विष्णु का नाचते हुए आगमन होता है। शखासूर और विष्णु में युद्ध का दृश्य मच पर उपस्थित होता है। विष्णु अपनी शक्ति से शखासुर को मारकर ब्रह्मा को वेद प्रदान करते हैं।

यह तो हुई दशावतार की प्रारम्भिक भूमिका। इसके पश्चात् मत्स्यावतार में वास्तविक कथा का आरम्भ होता है। सभी अवतारो का मच पर प्रवेश आवश्यक नही है। महाभारत के प्राय उन प्रसगो का मच पर अभिनय किया जाता है जिनमें युद्धादि घटनाओ का समावेश है। रामायण के कथानक बहुत कम मच पर खेले जाते है। कथानक सूत्रधार की सहायता से स्पष्ट होता जाता है। प्रत्येक पात्र के प्रवेश पर सूत्रधार परिचय देता है। वह विशेष प्रकार के शब्दोच्चार के साथ झाझ बजाता है। और उसके साथ ही मृदग की थाप गमकती है। प्रवेश के साथ ही कुछ समय तक पात्र मच पर नृत्य करता है और तदनन्तर निर्धारित शैली में स्वगत-कथन करने के बाद अपना स्थान

ग्रहण करता है। लडाई के दृश्यो में वाद्यो की गत मनोरजक होती है। घटो पटेवाजी चलती है। वढा-वढा कर अपनी वात कहने और अति नाटकीय हो कर अभिनय करने की प्रवृत्ति पौराणिक नाटको की तरह दशावतार में भी लक्षित की जाती है।

दशावतार के लिये मच के विशेष आडम्वर की आवश्यकता नही होती। साधारण-सा रगीन पर्दा पीछे वाँध दिया जाता है। एक ओर वादक वैठ जाते हैं और दूसरी ओर पात्र-प्रवेश के लिये स्थान छोड दिया जाता है। कुछ स्थानो में अवतारो का अभिनय करनेवाले पात्र दूर किसी स्थान से (वेपभूप से सज्जित हो कर) मच पर आते है। मंच पर प्रवेश करने के पूर्व वे पूरे मार्ग भर नृत्य करते हैं। निश्चय ही उनके इस परिश्रम में वादक भी सहायक होते है। मार्ग में खासा मनोरजक दृश्य उपस्थित होता है। पात्र और दर्शक इस प्रयोजन में प्राय समरस हो जाते हैं। गणपति की लम्वी सूड दो-तीन वालक उठाये हुए चलते हैं। गणपति का प्रभाव डालने के लिये पात्र का वक्रिम गति से पद-सचालन और झूमना अथवा सरस्वती का नकली मोर के ढाँचे को अपने अग पर वाँध कर ऐसे हाव-भाव करना मानो वह ठौर पर ही वैठी हो, पर्याप्त दर्शनीय प्रसग हो जाते हैं। स्त्रियो का अभिनय प्राय पुरुप ही करते हैं। प्रत्येक पात्र की ठहरी हुई वेप-भूपा होती है। अन्य प्रदेश के लोक-नाट्यो की भाँति मध्यरात्रि के थोडे पहले दशावतार का अभिनय आरम्भ हो कर प्रात काल तक चलता है।

गोवा में 'घुमट' नामक एक लोक वाद्य का उपयोग किया जाता है। उस वाद्य की ताल पर जो नृत्य होता है उसकी अनुरूपता दशावतार के नृत्य में होती है। कहते हैं, पहले गोवा-क्षेत्र के दशावतार में घुमट वाद्य का उपयोग होता था। मृदंग और झाझ का उपयोग भी दशावतार में किया जाता है।

दशावतार का प्रचार आधुनिक प्रभावो के कारण महाराष्ट्र की भूमि से उठता जा रहा है। गाँवो में फिर भी यदाकदा लोक-नाट्यो के ऐसे दृश्य देखे जाते हैं।

अन्य लोक-नाट्यो में भैरवनाथियो द्वारा 'मराठी' और 'चित्रकथी' का प्रदर्शन भी किन्ही अशो में उल्लेखनीय है। उक्त सभी नाट्य प्रकारो में पवाडे और लावनियाँ सामान्य तत्व हैं, जो महाराष्ट्र की अपनी खास विशेपताएँ हैं।

आज का महाराष्ट्रीय रगमच वहुत आगे वढा हुआ है। उसके विकास में परम्परा का अपना योग निर्विवाद है। यद्यपि सस्कृत नाटको की परम्परा ने मध्य में मराठी नाटकों को प्रभावित किया अवश्य, पर १९ वी शताब्दी के अन्त तक गतिपूर्वक जो परिवर्तन महाराष्ट्र में हुए, उन्होने लेखक, अभिनेता और जन के वीच वहुत कुछ भेद पाट दिये। जन के सपर्क में जो मच पनपे वे उन मचो से अधिक टिकाऊ प्रमाणित हुए, जो विशिष्ट वर्ग की सम्पत्ति वन कर चले आ रहे थे।

यक्षगान, विथिनाटकम् और तोलबोम्मुलु

यक्षगान दक्षिण भारतीय लोक नाट्य का वह प्रकार है जो तामिल, तेलगू, कन्नड भाषा-भाषी क्षेत्र की ग्रामीण जनता में प्रचलित है। तेलगू में इसे 'विथि' या 'विथि भागवतम्' भी कहते हैं, परन्तु दोनो में अवान्तर भेद अवश्य है। यक्षगान नाटक की परम्परा आन्ध्र, कर्नाटक और तामिल सस्कृति की वाहक है। इसकी प्राचीनता निसदेह निर्विवाद है, तो भी निश्चित रूप से इसकी उत्पत्ति के विषय में मतैक्य नही है। यक्षगान नाटक के लिये 'प्राकृत नाटक' शब्द का दूसरा प्रयोग उपलब्ध है। प्रतीत होता है कि यह अवश्य ही ऐसा नाटक रहा है जिसमें सस्कृत की रूढ परम्परा का निर्वाह नही होता था और जो लोगो के अधिक निकट था। वेटूरि प्रभाकर शास्त्री ने यक्षगान की उत्पत्ति 'कुरवजु' नामक नृत्य से मानी है। प्राचीन काल में द्राविडी नाटको को भी 'कुरवजु' कहा जाता था। कुरवजु 'कुरव' और 'अज' से मिलकर बना है। 'कुरव' का तात्पर्य जाति विशेष और 'अज' का नृत्य से है। अर्थात्, कुरव जाति का नृत्य। एक दूसरे विद्वान श्री नेलटूरी वेंकट रमणय्या 'कुरवजी' को तामिल शब्द वताते हुए कहते हैं 'कुरवजी' एक जाति की स्त्री है। तेलगू में इसे 'एरूक' कहते है। प्राचीन काल में तामिल यक्षगानो में कुरवजी स्त्री पात्र का प्रवेश होता था। कुरवजी पात्र का जिस यक्षगान में प्रवेश किया जाता वह कुरवजी कहलाता है। केवल कुरवजियो से यक्षगानो की उत्पत्ति नही हुई। यक्षगानो के विकास पर प्रकाश डालते हुए वेटूरि शास्त्री का कथन यहा उद्धृत करना आवश्यक है। लिखा है --

"आध्र देश के श्रीशैल, इद्रकील नगर (विजयवाडा) आदि शैव क्षेत्रों में नृसिंह क्षेत्रादि, वेदाद्रि पर्वतो पर वर्षोत्सव के समय नागरिक इकट्ठा होते थे। उनके विनोदार्थ आदिवासी नृत्य विशेष का प्रबध करके धनोपार्जन करते थे। 'कोरवी' जाति से किया गया नृत्य 'कोरवजु' कहलाता था। 'कोरवजु' नृत्य विशेष से क्रमश जाति विशेष में वदलता रहा। ये नृत्य विशेष रूप में ही न रहकर प्रबन्धो के रूप में परिवर्तित हुए और कालानुगुण पर्वत प्रदेशो की महत्वपूर्ण कथाओं से शिव-विष्णु लीला कथाओ में सम्मिलित होकर विशिष्ट गेय-नाट्य वन गये। ये गेय-नाट्य पहले नृत्य विशेषो पर निर्भर थे। धीरे-धीरे इनका प्रचार नगरो में भी होता रहा है जिससे नागरिको की भी एक विशिष्ट रुचि इनके प्रति होती गई। उन नृत्य दृश्यो को यक्ष या कलावान खेलते थे। दृश्य नृत्याभिनय के साथ ही साथ गेयो में वचन का श्रव्यरूप भी जोड दिया गया। राजा सभाओ में देवोत्सव जातर (यात्रा) के समय यक्ष गधर्वादि वेष धारण कर वेश्याओ द्वारा प्रदर्शित कराते तथा नृत्य धर्म से गेय धर्म की अधिकता होने से यक्षगान कहलाते थे"।[1]

---

१. देखिये वेटूरि लिखित, सुग्रीव विजय' की भूमिका तथा कर्ण राजशेष गिरिराव का लेख--'आन्ध्र देश के यक्षगान' (सम्मेलन पत्रिका, पौष, २०१०)।

'यक्षगान'

'यक्षगान' का प्रारम्भ

[पृ० ७२]
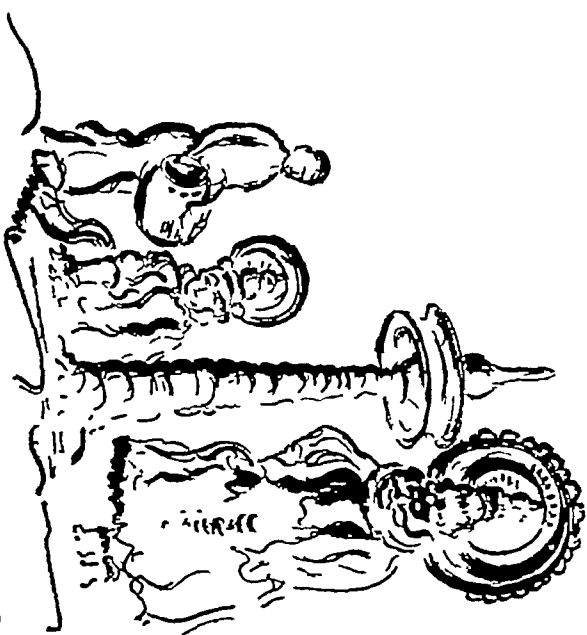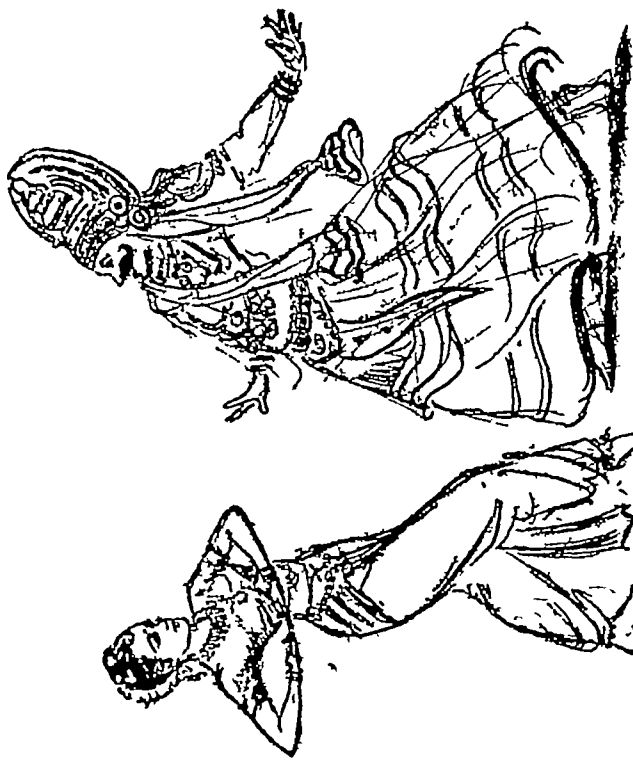
'कथाकली' का नूतन रूप

'कथाकली' का एक पात्र रूप-सज्जा करते हुए।

कठपुतलियो के खेलो से भी इनकी उत्पत्ति का अनुमान किया जाता है, क्योंकि आरम्भ में इनमें सवादों का अभाव था। नृत्य और गान के साथ इनका सामजस्य होते ही ये 'यक्षगान' की सज्ञा से अभिहित किये गये।

दक्षिण भारत में कथाकली नृत्य की दो भिन्न शैलियो में यक्षगान का भी उल्लेख किया जाता है। एक कचपुडी और दूसरी यक्षगान। दोनो शैलियों का प्रदर्शन करने वाली मडलियाँ गाँव-गाँव घूमती हैं। चूंकि इनके नृत्य कथात्मक और वेषभूषा कथाकली की भाँति भडकीली होती है, इसलिये इन्हें लोक नाटच की उस श्रेणी में स्थान प्राप्त है, जो पौराणिक कथानकों के आश्रय पर सगीत और नृत्य की सहायता से प्रभाव उत्पन्न करने में क्षम है।

इस विषय में विद्वानो ने अपने भिन्न-भिन्न मतो से वास्तविकता को बौद्धिक तर्कों का बाना पहना दिया। साधारणतया, वेटूरि शास्त्री का मत स्वीकार करना उचित जान पडता है।

यक्षगान की प्राचीनता

यक्षगान नृत्य नाटच है जिसमें गीतबद्ध सवादो का प्रयोग होता है। लम्बे-लम्बे बोल पात्रों को सहज ही कठस्थ रहते हैं। इनमें वर्णन का प्राधान्य होता है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में ये नाटक न केवल मनोरजन के साधन थे, अपितु प्रचार में इनका भरसक उपयोग हुआ है। ११वी एव १२वी शताब्दी के जैन ग्रन्थो में यक्षगान नाटक को देशी गीत (लोक गीत या ग्राम गीत) कहा गया है। 'काकतीय युग' में इसे धर्म के साथ पौराणिक चरित्रो का प्रदर्शन करने का माध्यम बनाया गया। साधारण लोग तो इसमें भाग लेते ही थे, नगर की वेश्याएँ इनमें होती थीं। काकतीय प्रतापरुद्र की वेश्या मायलदेवी और भीमेश्वर पुराण की एक वेश्या पात्र 'ईशाणि वेष' धारण कर भिक्षाटन करती थी।

बारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारतीय राजनीति में काफी परिवर्तन हुए। देश में एकता का अभाव और सामतवाद का प्रबल होना कला के लिये क्षति का कारण हुआ। परन्तु जनता के मनोरजन ज्यो के त्यो जारी रहे। नग ो के सभ्य समाज में यक्षगानों का प्रचार क्रमश बढने लगा था। श्रीनाथ कविने (१४वी–१५वीं शताब्दी) यक्षगानो की जो प्रशसा की है, उससे यह विदित होता है कि राजाओं ने इन्हें प्रोत्साहन प्रदान किया। १६ वी शताब्दी के कवियो ने राजाओ से प्रोत्साहन पाकर अनेक यक्षगानो की रचना की। राजा नृसिह रायुल (१६वी शताब्दी) ने अष्टभाषा कवि को 'चन्नकवि' और 'सोभद्र चरित्र' नामक यक्षगानो पर अतुल धन दिया था।

स्त्रियाँ पुरुष वेष धारण कर यक्षगानो में भाग लेती थीं। पिंगली सूरन्ना नामक स्त्री का उल्लेख प्राप्त हुआ है जो 'प्रभावती प्रद्युम्न' और 'गगावतार' नाटको में अभिनय करती थी। 'रग जम्मा' नामक स्त्री का भी उल्लेख मिलता है, जो 'मन्तरूदास विलास नाटकम्' की लेखिका बतायी जाती हैं। तजोर राजाओ को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने यक्षगानों में सस्कृत नाटच शैली का प्रवेश कराया। रग जम्मा तजोर के ही राजकुमार विजय राघव की स्त्री थी। और बहुत सभव है उसने इस परम्परा को काफी आगे बढाया हो। उसके शासन काल में मधुरवाणी और रामभद्राम्बा जैसी कवयित्रियो को इसी आशय से आश्रय प्रदान किया गया था।

यक्षगानो की यह परम्परा ठेट १७वी शताब्दी के अन्त तक साहित्य में अनुप्राणित रही। १७वी शताब्दी के पश्चात् लगभग १०० नाटक ऐसे लिखे गये जिन पर यक्षगान का पूरा प्रभाव है।

यक्षगान नाटक की भाँति बम्बई और हैदराबाद के निकटवर्ती ग्रामो में कुछ लोक-नाट्य 'दोड्ड अट्ट' अर्थात् जनता के नाटक या 'बयालता' (खुले रगमचीय नाटक) तथा 'अट्टदत्त' (उन्नत मचीय नाटक) के नाम से प्रचलित हैं, किन्तु उन पर आधुनिकता का पर्याप्त प्रभाव है। यह बात उल्लेखनीय है कि वे लिपिबद्ध नही हैं।

इन दोनो नाट्य प्रकारो का प्रचार कर्नाटक में भी है। वस्तुत वही उनकी मूल भूमि है। नृत्य और सगीत इनमें प्रधान रूप से अभिनय के सहायक अग हैं। हिम्मेला या भागवत द्वारा महाभारत और रामायण की कथाओ अथवा वैदिक गाथाओ का आधार प्राय इन नाटको में लिया जाता है। कन्नड का आरभिक साहित्य पद्यबद्ध है। अत लोकजीवन में नाटको के कथानको पर पद्य की छाप होना स्वाभाविक था। सतपदी में ऐसी कितनी ही सामग्री उपलब्ध है जो रगमच के लिये उपयोगी कही जा सकती है। स्थानीय वीरो की कथाओ पर आधारित ये नाटक कदाचित् पौराणिक अथवा सस्कृत ग्रन्थो की गाथाओ की अपेक्षा अधिक मौलिक रहे हैं।

यक्षगान नाटको की कथावस्तु यों तो रामायण, महाभारत और भागवत की पौराणिक एव लोकप्रिय कथाओ से ली जाती है। किन्तु वह लोक भावो से अनुरजित होकर अभिनेताओ के कौशल और मुखाग्र सवादो का स्पर्श पाकर अधिकतर लोकपरक हो जाती है। समय समय पर सामाजिक मान्यताएँ उनमें प्रश्रय पाकर परम्परा का स्वरूप धारण करती गई। अनेक वर्षों के पश्चात् लिंगायत सत अल्लामा प्रभु का जीवन चरित्र मच का विषय बनाया गया—जो वस्तुत परम्परागत शैली में प्रयोग कहा जा सकता है।

कथाकली और यक्षगान

कथाकली केरल का नृत्य नाट्य है। कला की दृष्टि से उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति लोकजीवन की अनेक अशो में समुचित व्यञ्जना है। लोकपरक अभिव्यक्ति के साथ शास्त्रीय पक्ष भी कथाकली में समादृत है। पृष्ठ में कथापाठ होता है और मच पर पात्र अपनी मूक मुद्राओ और अभिनय द्वारा नाटकीय तत्त्व की उपलब्धि करते हैं।

यो तो कथाकली की प्राचीनता निसन्देह मान्य है तथापि १८वी शताब्दी के लगभग इसका विकास हुआ। इसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित है। दूसरी शताब्दी में रचित तामिल काव्य 'चिलप्पडिकरम्' में एक चक्कीयार जाति का उल्लेख मिलता है। उसके समय में प्रचलित 'कुडियत्तम' से कथाकली का सवध जोडा जाता है। किवदन्ती है कि कालीकट के राजा जमोरिन, तत्कालीन प्रचलित लोकनृत्य के आधार पर 'कृष्णअत्तम' नामक एक नाट्य-रचना कथाकली शैली में तैयार की। उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली। परिणामत एक पडोसी राजा ने नम्बूद्री ब्राह्मणो की सहायता से 'रामअत्तम' तैयार किया। 'कथाकली' शब्द का अर्थ है सगीत में निवद्ध कथा। नृत्य होते हुए भी अभिनय प्रसाधन कथाकली में प्रमुख हैं। साधारण से उन्नत मच पर 'त्रिशला' (पर्दा) की व्यवस्था, चेहरे लगाना, रूप-

सज्जा, सभी प्रकार के पात्रो का अभिनय चेंडक (नगरे), मुद्दलम (मृदग), बाँसुरी, मँजीरे आदि वाद्यो का मिला-जुला वातावरण नाट्य की सृष्टि ही अधिक करता है। नाट्यो में जिस प्रकार दृश्य योजना होती है, ठीक उसी प्रकार अनेक दृश्यो में एक ही कथा प्रस्तुत की जाती है।

प्राय केरल के कथाकली नृत्य से यक्षगान नाटको की तुलना की जाती है। जहाँ तक वेषभूषा, भावभगिमा, मुद्राएँ और नृत्य का प्रश्न है यक्षगान नाटक—कथाकली के काफी निकट है। अन्तर केवल अभिव्यक्ति में है। दोनो के प्रदर्शन और अभिनय का ढग अलग-अलग है। विषयवस्तु के सगठन में अधिक सौन्दर्य यक्षगान नाटक के अन्तर्गत निहित है। यद्यपि लोक-कलाकारो द्वारा इनका निर्माण होता है तथापि लोक मच की स्वाभाविक विशेषता एव सौन्दर्य रचना की भाव-गरिमा में कही भी शैथिल्य नहीं दीख पडता। कथाकली का आधार लम्बी रचनाओ में से चुने हुए सुन्दर अश होते हैं, तथा यक्षगान नाटक अपने आप में परिपूर्ण और व्यवस्थित रचना होती है।

यक्षगान नाटक की कोटि में ही गिने जाते हैं। भरतमुनि ने नाटक को दृश्य काव्य कहा है। यद्यपि उसमें पद्य और गद्य दोनो का समावेश आचार्यों ने स्वीकार किया है। यक्षगान नाटक में गीत और नृत्य का सामजस्य जनसुलभ रुचि के अनुसार पाया जाता है। सवाद का निर्वाह भी गीतो द्वारा होता है। कथा गीतो के माध्यम से क्रमश खुलती जाती है। नृत्य के साथ पात्रो का अभिनय प्रदर्शन और सवाद गायन इस ढग से चलता है कि लोग घटो बैठे रहते हैं। कैसा ही पात्र क्यो न हो वह पद्य में भाषण करेगा। इससे कहना होगा कि ऐसे लोक-नाटको का अधिकाश आधार लोक-गीत है।

लोक-गायकों की परम्परा ने आन्ध्र और कर्नाटक के ग्रामो में यह कला सम्हाले रखी। खुले मच पर इन नाटको का प्रदर्शन समय-समय पर गाँवों में होता है। गाँव के किसी भी व्यक्ति अथवा कुछ लोगो के मिले-जुले सहयोग से नाटक-मडलियो की आर्थिक कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं। सहयोग देने की यह प्रथा भारतीय ग्रामो में कोई नई बात नही है। जातक ग्रन्थों में धनीमानी लोगो द्वारा नृत्य-नाट्य आदि उत्सवो के आयोजन करने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। दर्शकगण भी कला-अभिनय, आदि से प्रसन्न होकर सहायता प्रदान करते थे। तामिल के प्रसिद्ध कवि इलगू ने अपने काव्य-ग्रन्थ में चोल की राजधा ी पुहार के मेले का वर्णन किया है। उसमें नृत्य, नाट्य और अन्य मनोरजन साधनो का विस्तृत वर्णन किया है।

वर्तमान यक्षगान नाटक की रक्षा का श्रेय लोक-गायको को है। इन नाटको के लिये किसी तरह का बन्धन नही है। खुला मच और दर्शको की कोई सीमा नही। कुछ वर्ष पूर्व इस परम्परा को जीवित रखने के हेतु कवि वल्लतोल के केरल कला-केन्द्र की भाँति यक्षगान कला केन्द्र स्थापित करके एक समिति की स्थापना की गई है। इस समिति के प्रयत्न से शिक्षित समाज का दृष्टिकोण इस दिशा में उन्मुख होने लगा है।

विथि नाटकम्

'विथि नाटकम्' या 'विथि भागवतुम्' तेलगू का लोक मच है। यक्षगान की अनेक विशेषताएँ इसमें सम्मिलित हैं, अतएव एक दृष्टि से यह यक्षगान का ही भेद है। पिछली शताब्दियो में इसका खूब प्रचार रहा। 'क्रुदाभिरामम्' नामक श्रीनाथ कवि का नाटक इसी श्रेणी में आता है। 'विथि नाटकम्' का अर्थ है वह नाटक जो मार्ग में प्रदर्शित हो। स्पष्ट है कि ये नाटक लोक जन के प्रबल साधन ही थे। जहाँ जनता में इसका अपरिमित प्रचार रहा वहाँ किन्ही अशो में शासको द्वारा भी इसे प्रेरणा मिली। 'कचपुडी' की ब्राह्मण कलाकार मडलियाँ यात्रा करके अपने प्रदेश की जनता को इनके द्वारा प्राय मुग्ध कर दिया करती थी। गाँवों की जनता के लिए इन नाटको में मनोरजन की वह प्रणाली उपलब्ध है, जिनका ये परम्परा से उपयोग करते आ रहे हैं। इनमें एक या दो पात्र ही मच पर आते हैं। स्त्रियाँ समूह बनाकर नृत्य करती हैं। कृष्णलीला को नृत्याभिनय द्वारा देशी धज में बडी सफलतापूर्वक विथिनाटकम् का विषय बनाया गया है। मच प्राय मदिर के खुले भाग में अथवा साधारण ऊँचाई पर बनाया जाता है। यक्षगान की तुलना में 'विथि-नाटकम्' ग्रामीण अधिक है।

तोल बोम्मलु

तोल बोम्मलु चमडे की कठपुतलियो का खेल है। रामायण और महाभारत की कथाएँ इनके द्वारा परदे पर उतारी जाती हैं। सूत्रधार बडी कुशलता से इन पुतलियों को सचालित करता है, जैसा कि कठपुतलियो का तमाशा करनेवाले किया करते हैं। पुतलियो के स्थान पर कोई भी व्यक्ति पर्दे के पीछे से सवाद-गायन करता है। कहते हैं कि इडोनेशिया के बोयाग नाटको में इस तरह के भारतीय मनोरजन की प्रणाली का काफी प्रभाव लक्षित होता है। हास्य का प्रभाव पैदा करने का प्रयत्न सूत्रधार के सह-योगी बराबर करते हैं। 'तोल बोम्मलु' ग्रामीण होते हुए भी अत्यन्त प्राचीन हैं।

कामनकोट्टु

पौष के महीने में दक्षिण भारत में पोंगाल नामक उत्सव मनाया जाता है। इस समय साधारण जनता विभिन्न प्रकार के मनोरजन का आयोजन करती है। इसमें एक नाट्य का प्रकार है 'कामनकोट्टु'। 'कामनकोट्टु' कामदेव और रति की पौराणिक गाथा पर आधारित नाट्य है। दो पात्र कामदेव और रति का रूप धारण कर नृत्य करते हैं और वादक मृदग और धपडी के साथ कथा गाते है। लका में भी जो दक्षिण भारतीय परिवार जमकर वसें हैं वे भी यही नृत्य नाट्य प्रति वर्ष करते हैं।

जहा तक दक्षिण भारत में लोकनाट्यो का प्रश्न है उनके पीछे पौराणिकता अधिक है। तामिलनाड, आन्ध्र, कर्नाटक सभी क्षेत्रो में ग्रामीण नाट्य मनोरजन की अपेक्षा धर्मगत भावना से अनुप्राणित कहे जा सकते हैं। प्राय देर रात्रि में आरभ होकर ये सुवह तक चलते हैं। उत्साह की कमी भी नही पायी जाती। साधारण से आयोजन पर भीड हो जाना स्वाभाविक है। वडे पात्रो में तेल भर कर प्रकाश की व्यवस्था, रूप-सज्जा, वाद्य आदि का ठाट देखते ही देखते जम जाता है। कोई लिखित सामग्री नही होती। सभी पात्र अपनी स्वाभाविक धज से वोलते हुए कथा को आगे वढ़ाते हैं।

दक्षिण भारत के उक्त लोक-नाट्यो की आत्मा एक ही है । धार्मिक तत्वो से परिपूरित होते हुए भी सामाजिक जीवन का चित्र, अभाव, दैन्य, चमत्कार और हास-परिहास की सामग्री उनके गतिशील जनसुलभ भावों का प्रतिनिधित्व करती है ।

तामिल, तेलगु और कन्नडी भाषाओ में अनेक एक-दूसरे मे मिलते-जुलते रूप मिलते हैं । द्राविडी सस्कृति के अध्येयताओ को इन लोक-नाटकों में उत्तर भारतीय लोक-नाट्य परम्परा की अपेक्षा सस्कृत नाट्यो की परम्परा का स्पर्श अधिक मिलेगा । ग्रामीण जन की स्फूर्ति और आन्ध्र, कर्नाटक और तामिल के सस्कारो का प्राणोच्छ्वास यक्षगान, विथिनाटकम्, और तोलबोम्मल के स्वरो में स्पन्दित होता है ।

विविध प्रहसन

बिदेसिया

'विदेसिया' बिहार के भिखारी के प्रयत्नो से विकसित भोजपुर जनपद का ऐसा नाट्य है जिसमें प्रेमकथाए, सामाजिक समस्याओ के सन्दर्भ में अभिनय का आधार बनाई गई है। 'बिदेसिया' की विशेषता उसकी आधुनिक भाव-व्यञ्जना और सामाजिक यथार्थ पर करारी चोट है। आज के भोजपुर और विहार क्षेत्र में इस प्रकार के गीतनाट्य प्राय खेले और लिखे जा रहे हैं।

कड़ा

राजस्थान में वीररस पूर्ण एक नाट्य शैली 'कडा' के नाम से विख्यात है। कडा में किसी लोक कथा का गायन एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता है, पर उसकी प्रमुख पक्तिया पूरा समूह दुहराता है। वाद्य के नाम पर नगारा ही टेक झेलने पर किडकिडाता है।

जट्ट-जट्टनी

मिथिला, उत्तर विहार और भोजपुर क्षेत्र के अनेक ग्रामो में गीतो से भरा यह लघु प्रहसन बहुत प्रचलित है। मूक अभिनय इससे सम्बद्ध है। साधारणतया बिना गद्य के गीत ही गीत में यह प्रहसन पाच अको तक विस्तार पा लेता है। अको की मान्यता यो तो साधारण लोगो में नही होती, पर कथानक के मोड ही अको की उद्भावना अपने आप कर देते है। चौमासा लगते ही स्त्रिया इस प्रहसन द्वारा एकत्र होकर प्राय मनोरजन करती है। दो दल में विभक्त होकर इसकी आयोजना की जाती है। एक दल की प्रमुख जाट (जट्ट) और दूसरो की जाटनी (जट्टनी) बनती है। दोनो दल एक दूसरे के समक्ष विशेष मुद्रा में खडे होकर अभिनय के साथ गीतो ही द्वारा उत्तर-प्रत्युत्तर देते है। जो स्त्री जाट का अभिनय करती है वह अपने माथे पर मोटा साफा या पगडी और तन पर वडी पहन लेती है। शेष पात्र जरूरत के अनुसार जो भी मिले उसे पहनकर अभिनय का वातावरण बना लेते हैं। प्रस्तुत प्रहसन में किसी वाद्य की आवश्यकता नही होती। मच मैदान में ही समझो। जहा थोडी सी स्त्रिया एकत्र हो सकती हैं, वही जगह मच के लिये पर्याप्त है। नीचे "जट्ट-जट्टनी " का उदाहरण उद्धृत[1] किया गया है –

जाट कहता है -

'चल चल हे जट्टिन, जमुनमा के तीर।
हम टीकवा वेसाहव जमुनमां के तीर ।।

("हे जट्टी, यमुना के किनारे चलो, वहा मैं तुझे टीका खरीद दूगा।") जट्टी इनकार की मुद्रा में कहती है --

---

१ नई धारा, सितम्बर, १९५४।

'टीकवा मँगलीओ जट्टा, टीकवो न लैल जट्टा ।
मँगीआ उदास मोर, हम नहीं जएवो जमुनमाँ के तीर ।।'

(" मैंने तुमसे टीका मागा था, तुम नही लाये । मेरी माग उदास है, मैं यमुना के किनारे नही जाऊगी । ")

जट्टा उत्तर देता है-

'जब जब टीकवा ललिऔं जट्टिन, टीकवा काहे ने पेन्हल हे ।
हरी-हरी चुनरी समरिया, नैहरा काहे गेल हे ।।
माय बाप निरधन जट्टिन, बेचि-बेचि खलको हे ।
मंगीआ उदास जट्टिन, नैहरा का गेल हे ।।'

(" जब-जब मैं टीका लाया तब-तब तुमने पहना क्यो नही ? पीहर जाने से तेरी हरी चुनरी घूमिल हो गई । हे जट्टी, तेरे मा-बाप गरीब हैं, वे तेरा टीका बेच कर खा गये । अब तो तेरी माग उदास ही रह गई, तू पीहर क्यो गई ? ")

अब जट्टी की मूक मानलीला प्रारंभ होती है । जट्टा मनाने का अभिनय करता है पर जट्टी मानती नही । वह झमक-झमक कर दूर हो जाती है । यहा से दूसरा अक प्रारभ होता है । जट्टा खीझ कर कहता है -

'लम्म के चलिह जट्टिन, लम्म के चलिह न ।
जैसे कांच कँरचिया लम्मे, तैसे लम्मिह न ।।'

(" हे जट्टी, नम्रतापूर्वक चलो । जैसे कच्चे बास की टहनी झुकी रहती है वैसे ही झुक कर रहो । ")

जट्टी उत्तर देती है -

'न लम्मवो न लम्मवो हो जट्टा, न लम्मवो न ।
जैसे गोहूमन सांप ऐंड़तै, तैसे ऐंड़वो न ।।'

("हे जट्टा, मैं नही नम्रता से रहूगी । जिस प्रकार गेहुअन सर्प गर्वोन्मत्त होकर रहता है इसी तरह रहूगी ।")

जट्टा -

'लम्म के चलिह ह जट्टिन, लम्म के चलिह न ।
जैसे गाँव के पुतोह लम्मे, तैसे लम्मिह न ।।

("हे जट्टी, नम्रतापूर्वक चलो । जिस तरह गाव की वधुए अवनत होकर चलती हैं उसी प्रकार चलो ।")

जट्टी -

'न लम्मवो न लम्मवो हो जट्टा, न लम्मवो न ।
हम त बाबा के दुलारी धीआ, ऐंठ चलवौ न ।।

("हे जट्टा, मैं नही नम्रता से रह सकती । मैं अपने पिता की प्यारी कन्या हू, मैं तो इठला कर ही चलूगी " ।)

अब जट्टा धमकी की मुद्रा में कहता है

'लम्म के चहिल हे जट्टिन, लम्म के चलिह न ।
हमर बाबा सरदार जट्टिन, बँधवाए देवौ न ।।

("हे जट्टी, नम्रतापूर्वक चलो। नही तो मेरे पिता सरदार हैं तुझे बँधवा दूगा।")
इस पर जट्टी भी तमक कर कहती है—

'न लम्मवो न लम्मवो हो जट्टा, न लम्मवो न।
हमर बाबा जमींदार जट्टा, छोडाये लेतौ न।।'

(" हे जट्टा, मैं नही नम्रतापूर्वक रहूगी। मेरे पिता जमीदार हैं वे मुझे छुडा लेगें।")

दूसरा अक समाप्त होकर अब तीसरा अक प्रारभ होता है। इसमें जट्टा परदेश जाने की तैयारी करता हुआ कहता है—

'हमर त टोपिया बेच खैल जट्टिन,
अब जट्टिन जाये देह विदेस।
हमर त कुरता बेच खैल जट्टिन,
अब जट्टिन जाये देह विदेस।।'

(" हे जट्टिन, तुम तो कुरता-टोपी बेच कर खा गई, अब मुझे परदेश जाने दो।")

जट्टी इनकार के मुद्रा में कहती है—

'ओहू से उत्तिम सिलाय देब हो जट्टा,
पेन्हाय देव हो जट्टा।
जनि जट्टा जाह विदेश।।'

(" हे जट्टा, मैं उससे भी उत्तम सिलाकर तुम्हें पहनाऊगी। तुम कृपया विदेश मत जाओ।")

जट्टा—

'हमर त धोतिया बेच खैल जट्टिन,
अब जट्टिन जाये देह मोरंग देस।
हमर त छत्ता बेच खैल जट्टिन,
अब जट्टिन जाये देह मोरंग देस।

(" हे जट्टी, मेरी धोती और छाता तो तुम बेच कर खा गई। अब मुझे मोरग देश जाने दो"।)

जट्टी रोने की मुद्रा में अनुनय भरे शब्द में कहती है—

'मोरंग मोरंग सुनिये, मोरंग मति जाहु हो जट्टा,
मोरंगवा में असली जोगनियाँ हो जट्टा।
उलटिओ न ताके पलटिओ न ताके हो जट्टा।।'

("मैं मोरग-मोरग सुनती हू, मोरग नही जाओ। सुनती हू कि मोरग में असली जोगिन रहती है जो जोग करने के पश्चात उलट कर देखती भी नहीं।")

जट्टा—

'मोरंग मोरंग सुनियें, मोरंग हम जाएब हे जट्टिन।
मोरंग से टीकवा ले आएव हे जट्टिन।।
मोरंग में असली जोगिनयाँ हे जट्टिन।
ओहू के पेन्हा के तोरा ललचाएव हे जट्टिन।।'

(हे जट्टी, मोरग-मोरग सुनता हू तो अवश्य जाऊगा । और वहा से टीका भी लेता आऊगा। मोरग की असली जोगिन को टीका पहना कर तुझे ललचाऊगा ।)
यह सुनकर जट्टी रूठ कर नैहर चली जाती है । तीसरा अक समाप्त हो जाता है । चौथे अक के प्रारभ में जट्टा, जट्टी के नैहर जाने का अभिनय करता है । अपने जत्थे में जट्टी छिप जाती है और जत्था जट्टी के मा-बाप, भाई-भौजाई में परिणत हो जाता है । अब जट्टा अपने श्वसुर से पूछता है -

'बाबूजी बाबूजी, यही नगरिया, जट्टिन के अवैत देखली न ।'

(बाबूजी, मैंने जट्टी को इस नगर में आते देखा है ।)
श्वसुर की ओर से उत्तर मिलता है -

'नहीं रे नहीं रे यही नगरिया, जट्टिन न आएल रे ।'

(नही नही, जट्टिन यहा नही आई है ।)
जट्टा -

'बाबूजी बाबूजी यही नगरिया,
जट्टिन के चाउर कूटत देखली न ।
जेंवना बनवइते देखली न,
जेंवना जेंवइते देखली न ।।'

(बाबूजी, मैंने इसी नगर में जट्टी को चावल कूटते देखा है । रसोई बनाते और खाना खाते भी देखा है ।)

'नहीं रे नहीं रे यही नगरिया,
जट्टिन न आएल रे ।'

(नहीं नही, यहा जट्टी नही आई है ।)

यह सुनकर जट्टा निराश होकर चला जाता है । इधर जट्टी के माता-पिता जट्टा के भय से जट्टी का वेश परिवर्तन कर देते हैं और प्रचारित करते हैं कि यह मेरा पुत्र "राहूदास" है । "राहूदास" रूपी जट्टी को एक घाव हो जाता है । उसके माता पिता सिंघी लगाने वाले एक जर्राह की तलाश करते हैं जो उसके घाव का रक्त चूस कर उसे स्वस्थ कर दे । जट्टा तो चुपके-चुपके अन्वेषण कर ही रहा था, वह तुरन्त जर्राह का वेश बनाकर वहा पहुचता है । जर्राह को पाकर उसके माता - पिता अनुनय करते हैं -

'रोहू दास के हाथ के बाला, रोहू दास के हाथ के अंगूठी ।
हमहूँ देबो हो बैद जी, रोहू दास के देह छोड़ाए ।'

(हे वैद्यजी, रोहूदास के हाथ का बाला और अगूठी मैं तुम्हें पुरस्कार में दूगा । इसे अच्छा कर दो ।)
जर्राह - 'रोहू दास के हाथ के बाला, रोहू दास के हाथ के अंगूठी,
हमें नहीं लेबो बाबू रोहू दास के देबो छोड़ाए ।'

(रोहू दास के हाथ का बाला और अगूठी मैं नही लूगा । परन्तु इसे यो ही अच्छा कर दूगा ।)

इसके बाद जर्राह रोहू दास की मरहम-पट्टी में सलग्न होता है । रोहू दास स्वस्थ हो उठता है । अब जर्राह रूपी जट्टा को कुछ भी सन्देह बाकी न रहा कि रोहू

दास ही उसकी जट्टी है। वह पर्चों को बुलवाता है और अपने श्वसुर पर जट्टी को छिपा रखने का अभियोग लगाता है। पर्चों की डाटडपट पर जट्टी के माता - पिता निरुत्तर हो जाते हैं। जट्टी भी सभास्थल पर बुलाई जाती है। अब जट्टी से उसकी भौजाई कैफियत तलब करती है -

"कहँमा के मारल कहँमा ऐल हे बगुली ?"
(हे बगुली तू कहा से भटकती हुई आई है ?)

जट्टी - "ससुरा के मारल नैहरा अइली हैं भउजी।"
(हे भाभी, ससुराल से भटकती हुई नैहर आई हू।)

भौजाई - "कौन कारण तें ससुरा छोडल है बगुली ?"
(हे बगुली, किस कारण से तूने ससुराल छोडी।)

जट्टी - "दूधवा औंटते छाली खइली हे भउजी।"
(हे भाभी, दूध औंटते समय छाली निकाल कर खा लिया था।)

भौजाई - "बगुली हे बगुली, तू तो सुरूअक जीभलाही हे बगुली।"
(बगुली हे बगुली, तू तो प्रारभ ही की चटोरी है।)

इसके बाद सर्वसम्मति से जट्टा जट्टी को ले जाने की तैयारी करता है। अब चौथा अक समाप्त होकर पाचवा अक प्रारभ होता है। दोनो घाट पर आते हैं और जट्टी माझी को नदी पार करने को कहती है। जट्टी का जत्था यहा पर माझी और उसके साथियो में परिणत हो जाता है। जट्टी प्रार्थना करती है -

'टीका देबो एवा रे खेवा, मोतिश्रा देबो इनाम।
भइआ मलहवा हो, उतार दे नदिया के पार।।'

(मेरे मल्लाह भाई, मुझे नदी के पार उतार दो। मैं टीका खेवाई दूगी और मोती पुरस्कार में तुम लेना।)

माझी - "न लेवौ एवा रे खेवा, न लेवौ इनाम।
वहिनी सुवासिन हे, फिर चल बावा दरबार।।"

(मैं न खेवा ही लूगा और न पुरस्कार ही। हे सौभाग्यवती बहन, तू पिता के घर लौट चल।)

जट्टी - "झूमका देबौ एवा रे खेवा, तरकी देबौ इनाम।
भइआ मलहवा हो, उतार दे नदिया के पार।।"

(मैं झूमक खेवा में दूगी और तरकी तुम पुरस्कार में लेना। ऐ मल्लाह भाई, मुझे नदी के पार उतार दो।)

माझी - "न लेवौ एवा रे खेवा न लेवौ इनाम।
बहिनी सुवासिन हे, फिर चल बाबा दरबार।।"

(मै न खवा लूँगा और न पुरस्कार ही। हे सौभाग्यवती बहन, तू पिता के घर लौट चल।)

जट्टी - "बाजू देवौ एवा रे खेवा, कँगना देवौ इनाम।
भइआ मलहवा हो, उतार दे नदिया के पार।।"

(बाजू खेवाई और कगन पुरस्कार में दूगी। हे मल्लाह भाई, तुम मुझे नदी के पार उतार दो।)

माझी - "न लेवौ एवा रे खेवा खेवा, न लेवौ इनाम ।
बहिन, सुवासिन हे, फिर चल बाबा दरबार ।। ",

(मैं न खेवा लूगा और न पुरस्कार ही हे सौभाग्यवती बहन, तू पिता के घर लौट चल ।)

जट्टी - "हसुली देवौ एवा रे खेवा, इनाम चँदरहार ।
भइश्रा मलहवा हो, उतार दे नदिया के पार ।। "

(मैं हसुली खेवाई में दूँगी और चन्द्रहार पुरस्कार में। ऐ मल्लाह भाई, मुझे नदी के पार उतार दो ।)

माझी - " न लेवौ एवा रे खेवा, न लेवौ इनाम ।
बहिनी दुलारी है, फिर चल भइश्रा दरबार ।। "

(मैं न खेवा लूगा और न पुरस्कार ही । हे प्यारी बहन, तू भैया के घर लौट चल ।)

जट्टी - कारा देवौ एवा रे खेवा, बिछुश्रा देवौ इनाम ।
भइश्रा मलहवा हो, उतार दे नदिया के पार ।"

(मैं कारा खेवाई में और बिछुश्रा पुरस्कार में दूगी । ऐ मल्लाह भाई, मुझे नदी के पार उतार दो ।)

इस बार माझी दोनो को पार उतारता है । जट्टी अपने पैरो के कारा और बिछुश्रा निकाल मल्लाह को पुरस्कार देती है और जट्टा के साथ प्रस्थान करती है । इस प्रकार यह खेल परिशेष होता है ।

भड़ैत

"भडैत" अथवा "भडैती" भाडो का व्यवसाय है । नकलें करना अथवा स्वाग धारण करना इसका स्वभाव है । लखनऊ, दिल्ली, बनारस, कन्नौज, मनिकापुर आदि स्थानो में भाडो का व्यवसाय प्रचलित है । उत्सव-त्योहारो के मौके आते ही ये उन्हें हाथ से नही जाने देते । मुडन, छेदन, विवाह आदि अवसरो पर लोगो के घर ये लोग जा पहुँचते हैं । अपने व्यवसाय में जहा इन्हे शैथिल्य दिखाई दिया कि "नौटकी" का सहारा ले लेते हैं । कुछ भाड परिवार साधारण धधा या व्यापार भी करने लगे है । मनिकापुर के भाड दूर-दूर तक पहुचते है । इनकी कुछ प्रसिद्ध भडैती के नाम हैं—चमेलिया लौंडी, अय्याराम कोरी, नाऊ, भटियारिन आदि । मौका देखकर तुरन्त प्रहसन की सृष्टि कर दर्शकों का मन मोह लेना इनकी विशेषता है । इनके लतीफे, लपफाजी, चुटकियाँ और वाक्‌गति सुनने योग्य होती है । स्वाग बनाकर उन्हें और भी रोचक बनाने की कला इन्हें अच्छी तरह याद हैं । भडैत की शैली पूर्णत हास्य की सृष्टि करने में सहायक है ।

परिशिष्ट

१. कठपुतली का खेल

कठपुतली के खेलो का सम्बन्ध सुदूर इतिहास की गहराइयो से जुडा हुआ है। यह बताना कठिन है कि यह खेल कितना प्राचीन है, अथवा इसका मूल स्रोत क्या है। भारतीय पूर्वकालीन तान्त्रिक अनुष्ठानो, चीन के प्राचीन धार्मिक उत्सवो, इजिप्त के मकबरों और ग्रीस के दार्शनिक विचारो में इसका उल्लेख मिलता है। भारतवर्ष और उसके निकटवर्ती देशों में तो यह खेल अभी भी किन्ही अशो में जीवित है। नाटको में प्रयुक्त 'सूत्रधार' शब्द से कठपुतलियो के सूत्र द्वारा सचालित करने का अवश्य ही सम्बन्ध है। सूत्रधार का प्रयोग इसी कठपुतली के खेल से नाटचशास्त्र में अपनाया गया, यह निर्विवाद है। इसमें सन्देह नही कि कठपुतली का खेल प्राचीन काल से ही लोगो के मनोरजन का सर्वप्रिय साधन रहा है। भारतवर्ष में आज भी राजस्थान, मालवा, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र और मलाबार प्रान्त के कुछ भागों में यह परम्परा-प्रचलित खेल विद्यमान है। भारतवर्ष के बाहर इसका जो रूप मिलता है, वह निसन्देह भारत-वर्ष के अनुरूप ही है। पश्चिम में आधुनिकता का स्पर्श पाकर अब तो थियेटरो तक में यह खेल सम्मान पाने लगा है, जहाँ लोग प्रवेश पाने के लिये लालायित रहते है। कहना न होगा कि कठपुतली का खेल अपनी सर्वसुलभ विशेषताओ और अपनी चमत्का-रिक कला एव प्रभाव के कारण ही भारत, लका, चीन, जावा, और सुदूर पश्चिम के कुछ देशो में नष्ट न होकर लोक-मनोरजन का माध्यम वना हुआ है।

कठपुतली का निर्माण

कठपुतली वैसे तो शाब्दिक अर्थ के अनुसार काठ की पुतली है, पर उसके निर्माण में काठ के अतिरिक्त कपडा और चमडा भी काम में लिया जाता है। कठपुतली लम्वे-चौडे आकार की गुडिया की तरह लचकडार पुतली होती है, जो रगीन वेशभूषा और रूढिगत आकार-प्रकार एव सज्जा के साथ तैयार की जाती है। देहली तथा जयपुर-जोधपुर में कठपुतलियाँ तैयार करने वाले कई पेशेवर लोग रहते हैं। गोल चेहरा, लम्वी मछली की भाति आँखें, तनी भौंहें और लम्वे कानो तक खिचे हुए ओठो को देखकर पुतलियो की खास धज पहचानी जा सकती है। उनमें अधिक वजन नही होता। कुछ देशो में प्लास्टर के साँचो का प्रयोग किया जाता है जिससे कि आकृति में समानता वनी रहे और काम भी जल्दी हो जावे। जोधपुर की पुतलियों में व्यक्तित्व के अनुरूप लम्वाई-चौडाई होती है। प्रत्येक पुतली के पीछे सूत्र वाँधने के लिए हुक होता है। इन पुतलियो को खराद पर ऊपर से रग, रोगन लगाया जाता है। राजस्थानी पुतलियो का रग राजस्थानी शैली से मिलता है। दक्षिणी पुतलियो की वनावट दाक्षिणात्य ढग की होती है।

'कठपुतली' के साथ गानेवाली महिला

मुगल दरबार

पुतली का खेल करने वाला किसी भी यथोचित स्थान पर एक चारपाई खडी करके उसके आगे अपनी पुतलियो का मच बना लेता है। भारतवर्ष में मुगल-दरबार जैसे ऊँचे-ऊँचे स्तम्भो और मेहरावो के पीछे पुतलियाँ सचालित की जाती हैं। दर्शक सामने बैठते हैं जिससे उन्हें प्रत्येक गतिविधि दरबार में होती हुई दीखती है। दरबार की छत खुली हुई होती है जहाँ से सूत्रधार पुतलियो को उतार कर अपनी अँगुलियो के कुशल सचालन से सजीवता का आभास उत्पन्न करता है। यह दरबार रगीन वस्त्रो का बना हुआ होता है, जो कही भी रस्सियो से बाँधकर चारपाई के आगे शामियाने की भाँति खडा कर लिया जाता है। दरबार की ऊँचाई प्राय ३ से ४ और लम्बाई ८ से १० फुट तक होती है। और उसी प्रमाण में पुतलियाँ होती हैं। राजाओ की पुतलियाँ बडी और दरबारी तथा आम लोगो की पुतलियाँ छोटी होती हैं। साधारण व्यक्ति राजा के सम्मुख आते हुए काँपते हैं। नर्तकी एक विशेष ढग के साथ दरबार में एक हाथ से घाँघरे का छोर उठाये नृत्य करती है, और पास ही ढोलकिया गाते हुए ताल देता है। नृत्य की साधारण गति कत्थक से बहुत कुछ मिलती है। शूरवीर यत्रवत् तलवार घुमाते हैं जिससे एक गतिमय वातावरण बन जाता है। जोधपुरी पुतली वाले तो इस कला में अत्यन्त निपुण हैं।

कठपुतली के प्रकार

प्रमुख रूप से कठपुतली के चार विशिष्ट प्रकार उल्लेखनीय हैं—

१ **भारतीय कठपुतली**—जिसे सूत्र द्वारा सचालित किया जाता है। लका और ब्रह्मा में भी इसी प्रकार की पुतलियो का प्रचार है। इन पुतलियो के अग एक-दूसरे से जुडे हुए और लचकदार होते हैं। यह सबसे अधिक प्रचलित प्रकार है।

२ **मौजों वाली पुतली**—(ग्लोव डॉल) का प्रचार इग्लैण्ड में 'पच और जुडी', फ्रास में 'गुगनाल' एव जर्मनी में 'केसपर' के नाम से पाया जाता है।

३ **सलाई वाली पुतली**—नीचे की ओर से सलाई द्वारा सचालित की जाती है। तुर्किस्तान और चीन में इसका प्रचलन है।

४ **चौडी पुतली**—इसका भी एक प्रकार है जो सलाई द्वारा सचालित होती है। पर मुख्य पुतली की अपेक्षा उसकी परछाई को ही पर्दे पर दिखाया जाता है। दक्षिण भारत में 'पावाकुथू' के नाम से यह पुतली प्रसिद्ध है।

प्रदर्शन के विषय

उत्तर भारत के गाँवो में 'कठपुतली रो खेल किरालो' की आवाज देकर घूमने-वाले कई व्यक्ति उन दिनों दीख पडते हैं जब कि लोग खाली समय में होते हैं। राजस्थानी पुतली (जिसे भारतीय पुतली कहा जा सकता है) अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। मलाबार में इन्ही पुतलियो के द्वारा रामायण, महाभारत आदि की कथाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। मदिरो के उत्सवो के अवसर (पूरम् या वेला) पर इनके खेल आयोजित होते हैं। कुथूकर, परम्परा से कठपुतली के खेल करने वाले इन्ही अवसरो पर अपना काम करके वार्षिक आय के रूप में कुछ प्राप्त करते

हैं। खेल दिखाने का स्थान मदिर अथवा कोई नियोजित खुली जगह पर ही 'कुथूमडपम्' के नाम से बनाया जाता है। उत्तर भारत में रामायण अथवा महाभारत की कथाओ के बजाय ऐतिहासिक घटनाओ अथवा सामाजिक हास्यो के प्रदर्शन का रिवाज अधिक है।

राजस्थान की कठपुतलियो के पृष्ठ में ऐतिहासिक वृत्तो का अथवा लोक प्रचलित कथाओ का समावेश है। राजा अमरसिंह राठौर के शौर्य वर्णन और प्रदर्शन में जयपुरी पेशेवर बहुत निपुण हैं। राणा का खेल मुगल दरवार से आरम्भ होता होता है। लाल किले में दरवार भरा है। ढोलक की थाप के साथ गीतकार गीत-कथा को प्रारभ करता है। अकबर और शाहजहां का जमाना है। अमरसिंह दरबार में नही है। शाहजहां अमरसिंह की गुस्ताखी से खफा होकर तुरन्त दण्ड घोषित करता है। अमरसिंह का राजपूती खून खौल उठता है। वह बादशाह की इस आज्ञा का विरोध करता है। इस पर वादशाह अमरसिंह को तुरत दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा देता है। अमरसिंह दण्ड की रकम जमा करने के बहाने दरवार में आता है और अपनी तलवार से कई व्यक्तियो को मौत के घाट उतारता हुआ बादशाह पर हमला करता है, पर सौभाग्य से वह भाग जाता है। घटना का लौकिक स्वरूप कुछ इसी प्रकार है।

तथापि यह घटना सन् १६४४ की है, पर समस्त उत्तर भारत में कठपुतली-वालो के द्वारा यह अपने लोकग्राही रूप में अभी भी ताजी है। इधर सूत्रधार अपनी कुशलता से अमरसिंह की विशेषताओ को नाटकीय ढग से प्रदर्शित करता है, उधर उसकी सहयोगिनी, ढोलक वाली अपनी मारवाडी धुनो में घटना को गाती है और ढोलक की तेज थापो और सूत्रधार की सीटी के साथ पुतलियां लचककर चपलतापूर्वक खेल में रौनक लाती हैं। छोटे से मुगल दरवार में युद्ध, क्रोध और साहस के कार्यों का दृश्य देखने योग्य होता है।

मधुकर के शब्दो में सूत्रधार को कलाकार, कारीगर, सगीतज्ञ, भाट और प्रमुख रूप से किस्सागो होना पडता है, तभी वह कुशलतापूर्वक अपनी कठपुतलियो द्वारा प्रभावित कर सकता है।

बालको के लिए इन पुतलियो में ऐसी सजीवता है, जो परियो के लोक से कम नही। राजपूताने के साहस और मुगल दरबार का वातावरण कल्पना और पुतलियो के प्रत्यक्ष से उभर आता है।

संरक्षण की आवश्यकता

पुतलियो का अपना ससार है। इस प्राचीन लोक-कला का सरक्षण जरूरी है। कठपुतलियो का खेल करने वालो की अपनी खास विशेषताएँ हैं, जिन्हें वे परम्परा से सहजे हुए रहते हैं। कठपुतलियो का एक साथ जमाव, वातावरण में गति पैदा करना और ध्वनि के अनुरूप चपलता का एक साथ निर्वाह करना कुशल एव पेशेवर कलाकार के लिये ही सभव है। भारतवर्ष (राजस्थान में) यह कला पूरे जोश के साथ विकसित हुई। जोधपुर के निकट वर्षों से इस कला को धधे के रूप में पोषित किये कई कुटुम्ब वसे हुए हैं। यही लोग समय-समय पर दूर-दूर तक

यात्रा करते हैं । राजपूत राजाओं और जागीरदारो ने अपनी समृद्धि के युगो में इन्हें खूब आश्रय दिया । गुजरात, काठियावाड और मालवा में भी उन्हें यथोचित सरक्षण मिलता था । आज भी लोक-मनोरजन के साधनो के पुनरुद्धार के इस काल में कठपुतली के खेल को पुन प्रतिष्ठा प्रदान करना राष्ट्र के लिये गौरव का विषय होगा । इस दृष्टि से भारत के सूचना और प्रसार विभाग ने कुँवरसिंह पर एक खेल तैयार करवाया है, 'जो कुँवरसिंह की टेक' के नाम से प्रसिद्ध है । यह प्रशसनीय प्रयोग है इसी माध्यम से और भी घटनाएँ प्रस्तुत करना अपेक्षित है ।

२. छाया-नाट्य

छाया का अपना अनोखा सौंदर्य है। उसमें रहस्यात्मकता और आश्चर्य-भावना का स्पर्श निहित है। कल्पना और सत्य दोनों वहाँ एक साथ आते हैं।

छाया-नाट्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भारत, चीन और दक्षिणपूर्वी एशिया में यह कला कभी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। रूस में बाल-शिक्षण के लिए प्रयुक्त 'टॉय थियेटर' के समानान्तर ही इस माध्यम का विकास हुआ। भारतवर्ष में छाया-नाट्य लोगो के मनोरजन का साधन बनकर देशव्यापी महत्त्व की वस्तु तो बना ही किन्तु उसने निकटवर्ती देशो को भी प्रभावित किया है। मलाबार और आन्ध्र के गाँवो में इसके खेल आज भी उत्सुकता से देखे जाते हैं। मलाबार में इसे 'पावाकुथू' के नाम से पुकारते हैं। तामिलनाड में भी इसका पर्याप्त प्रचार है।

छाया-नाट्य लोगो का अपना मनोरजन है। आन्ध्र, मलाबार और तामिल-नाड में इसका खेल करने वाले दल प्राय गाँव-गाँव घूमा करते हैं। पौराणिक आख्यानों के आधार पर कथाओ का सिलसिला बैठा कर नाटक प्रस्तुत करना इन दलो के लिए सहज विषय है। तामिलनाड में कम्बन रामायण से पाठ किया जाता है। अत छाया-नाट्य के विषय देवता, राक्षस और पुराणो के प्रसिद्ध चरित्र हैं।

छाया-नाट्य आरम्भ करने के पूर्व बाँस की दो बल्लियो पर एक सफेद कपड़ा तान दिया जाता है। यह आयोजन प्राय गाँव के बाहर किसी जलाशय या मन्दिर के निकट अथवा नारिकेल या ताड वृक्ष की पृष्ठभूमि लेकर किया जाता है। पट के पृष्ठ में कुछ दूरी पर दीपक प्रज्वलित किये जाते हैं। नाट्य का प्रारम्भ करने के पूर्व दर्शको की ओर अन्धकार कर दिया जाता है। पट पर दीपको के प्रकाश के सहारे चमडे या काठ की बनी हुई आ तियो की छायाएँ सचालित की जाती हैं। ज्यो ही छाया-नाट्य शुरू होता है पट के निकट बैठे उद्घोषकगण सवाद आरम्भ कर देते हैं। आकृतियाँ सचालित करने वाला सूत्रधार पर्दे के पीछे इस तरह बैठता है कि उसकी छाया पट पर नही आने पाती। आकृतियो को सचालित करते समय वह भी कभी-कभी पृष्ठ से ही सवाद बोलता है। दल के मुख्य गायक दर्शको के सामने पट के आगे बैठे ऊँची आवाज में कथा-पाठ करते हैं। इस तरह छायानाट्य धूमधाम से आरम्भ होते हैं।

छायानाट्य की कला ने बर्मा, मलाबार, स्याम और इन्डोनेशिया के अनेक आधुनिक नृत्यो को प्रभावित किया है। उदयशकर ने इस माध्यम से रामलीला को अधुनातन रूप में प्रस्तुत कर प्रयोग को सफल बनाया है। जावा और बाली द्वीपो के नृत्यो पर प्रभाव का आरोप अधिक स्पष्ट है। जावा के छाया-नाट्यो की अधिकाश कथाएँ भारतीय हैं। इसे वहाँ 'वाजग' या 'वायग' कहते हैं। राम और अर्जुन वहाँ के मुख्य एव प्रिय पात्र हैं। चीन में छाया-नाट्यो का शिल्प अधिक अच्छी तरह विकसित हुआ है। चीन को इसे दूर तक ले जाने का

श्रेय भी प्राप्त है। वहाँ के लोगो का यह प्रिय मनोरजन है। लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व से एक अमरिकी स्त्री पालिन वेन्टन इस माध्यम का प्रयोग अमेरिका में करती आ रही है। उसने अनेक प्रयोग किये हैं। चीन से वह आकृतियाँ के प्रदर्शन की यह कला सन् १९२१ में लेकर आयी थी। उसकी आकृतियाँ और प्रदर्शन का ढग भारतीय और चीनी ढग का है। अत छायानाट्य का आज अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है।

इतना होते हुए भी छायानाटय पूर्णतया लोकधर्मी है। ग्रामीण जीवन में उनका प्रभाव अटूट है। लोगो के इतने निकट होने के कारण यह शैली किसी भी परिष्कृत बाह्य सावन के प्रभाव से वचित है। यह अधिक सभव है कि लोगो की भावनाओ से उसका सम्बन्ध होने के कारण छायानाटय सम्बन्धी प्रयोग सफल होगे।

३. रास

रासलीला का रगमच अत्यन्त साधारण और सरल होता है। ऊँचे तख्त या चबूतरे पर चादर बिछा दी जाती है। उसी पर अभिनेता आ जाते हैं। जनता चारो ओर घेर कर बैठ जाती है। एक ओर स्त्री और दूसरी ओर पुरुष। राधा, कृष्ण और सखियो के पदार्पण करते ही जनता उठकर उनका अभिनन्दन करती है। लोक चरण-स्पर्श को दौड पडते हैं। राधा और कृष्ण काठ की बनी गद्देदार कुर्सी पर विराजमान होते हैं और नान्दी पाठ आरम्भ हो जाता है। जिसमें जयदेव के गीत-गोविन्द, वल्लभाचार्य और हितहरिवश आदि के स्तोत्रो से वन्दना होती है। इसके बाद एक सखी कृष्ण से कहती है—'रास को समय ह्वै गयो अब आप पधारे।' कृष्ण खडे होकर राधिका जी से निवेदन करते हैं—

'राधे, रूप उजागरि श्याम करियो कृपा की कोर।' आगे कृष्ण फिर निवेदन करते हैं —

रसिकजन रजधानी महारानी कृपा करि हेरो।
मन जोहत राधे तेरो..
चलो चलें सब बन की ओर
करिए कृपा की कोर,
राधा भानुकुमारी।

राधा— नन्दकिशोर मोहन कुन्ज विहारी।
कृष्ण— चलिये सघन वन की ओर श्री मम प्राण पियारी।
बोलत चातक, मोर फूली अति फुलवारी॥
राधा— मैं न चलू वन की ओर तू नटखट गिरधारी।
(दर्शक—कृष्ण भगवान की जय)
तुम प्रीतम चित चोर उलटी रीत तुम्हारी।
कृष्ण— हा हा, काह कहावत चोर, तुम चित चोर निहारी।
निरखो कृपा की कोर तुम राधा प्यारी।
ब्रज वनितन सिरमौर, तुम भोली भाली।

इसके बाद कभी राधा-कृष्ण का द्वन्द्व नृत्य होता या फिर सामूहिक नृत्य होता, जिसमें राधा, कृष्ण, गोपियाँ और गोप शामिल होते हैं। इस प्रकार नृत्य, गायन और कथोपकथन के साथ रासलीला चलती रहती है। अन्त में कृष्ण वृन्दावन की महिमा का वर्णन करते हैं—

राज-पाट को नाहि करैया, ओढि कमरिया गाय चरैया।
रथ विमान पर नाहि चढ़ैया, गरुड पीठ पर नाहि उडैया।
पावन पावन नगे डोलो, व्रज रज सम कोउ नाहि।
जो रस बरस रह्यो ब्रज माही, या को दरसन औ कछु नाहि।

—साहित्यकार, अगस्त १९५६ से सादर उद्धृत।

४. राजा हरिश्चन्द्र : माच का अंश

(रंगत जोबना)

अजी सत का राजा सत की रानी सत की जीमो आसमान में तानी । अजी सत का पवन सत का पानी सत की राजा बोलते वानी ।।१।। अजी सत का सूरज सत का चन्दा सत का न्याव देखली छानी । सत के दत वत्तीम वर्ने के सत की जवान जात हैं सारी । अजी सत के काज घड मीस वर्ने के सत के नाम को जगत उभारी ।।

(बोल राजा हरिश्चन्द को)

—०—

(रंगत छोटी)

सतवादी हरिश्चन्द्र आये राजा सतवादी हरिश्चन्द्र ।।टेक।। विघ्न टूड गणपत ने सुमरा मिट जाय मन को सन्द ।। सरसत माता तुम्हें मनाता वाद ब्रह्म को छद ।। तारालोचनी नार हमारी रहे मन में आनन्द ।। सुन्दर सूरत वढी है सोभा नजर करी सव वन्द ।।२।। पुरी अयोध्या में राज हमारा तपता सूरज चन्द । सतयुग के सतवादी राजा सुन सुत मूरख अद ।।३।। नाम लिया से निरमल होवे कट जावे सव फद । इन्द्र लोक में मान जिन्होका ऋपी हुए मव मद ।।४।।

(बोल तारालोचनी को)

—०—

(रंगत दोहरी)

हू तो म्हारे तारालोचनी नार । सत को करा सभी श्रगार ।। टेक ।। पति हमारा सतवादी हरिश्चन्द्र सत की वादी कार । मत धरम की नाव वनाके उतरागा सम्हर पार।। १ ।। झूठ बोलै तो सोई झव मारे मो नर नरक निहार। सतजुग में सतवादी राजा हुआ मुलक में झार ।। २ ।। भूक को भोजन मिल जावे दुखिया खडे हजार। तन मन घन मोई हम देश्यां हेडो सिर को भार ।। ३ ।। पति नही परमेस्वर म्हारा दिन में नेचो धार । नित उठ सेवा करा वदगी रखो तुम्हारी नार ।। ४ ।।

(बोल दूत को)

—०—

आयारे धरमराज का दूत देखने आयारे ।। टेक ।। हुकम करने सतवादी राजा, किन क्या जावा । किन कू लावा ।। १ ।। आयारे ।। धरम पत्र में नाम लिखावा धरमी कू वैकुंठ पौहचावा ।। लख चोरासी जिन्हे भुगतावा ।। आयारे।। ३ ।। ऊपर से गुरज की मार लगावा। घर मुडी पानी जो तावा। आयारे ।। ४ ।। जहा मत होवे वहा हम जावा । जाकर हुकम आज उठावा ।। आयारे धरमराज का ।। ५ ।।

(बोल तारालोचनी को)

—०—

(रंगत इकहरी)

अजी या चीज पराई दो दिन बिलसी ने पाछी दई दीजो ।। टेक ।। कर करार बिलस लो बदे फिर नही इस पर जोरा। जगा करो भाडेती खाली देखो ठिकाना और ।। १ ।। कर करार ब्रह्मा शिव आये आये श्री भगवान। त्रेता जुग में राम भया है, द्वापर में भया कान्ह ।। २ ।। हुकम दिया हाकिम नही माने भेज दिया यमदूत । पकड हाथ आगे घर लीना कौन पिता कौन पूत ।। ३ ।। चदा जायगा सूरज जायगा, जाय पवन और पानी । एक चीज वो नही जावेगी कहे बालमुकुन्द ग्यानी ।। ४ ।।

(बोल पदमनागनी को)

—०—

(रंगत छोटी)

पुरी अयोध्या बाला म्हानें कोई सतवादी हरिश्चन्द्र बतावो ।। टेक ।। कच्चा सूत कूम्हार का सो क्या कच्चा सूत कतावो । निरमल नीर भरा सागर से हीरा बाजी म्हानें जितावो । कोई राजा हरिश्चन्द्र बतावो ।। १ ।। धरमराज का दूत देखलो काला गोरा गुन जो गावो । नित उठ सेवा करा बदगी दस दस केतो हुकम उठावो ।। २ ।। कोई सतवादी हरिश्चन्द्र बतावो ।। पदमनागनी अरजे करे हैं उसको जा समझावो । परसुवारथ के काज आज तुम दुश्मन के घर आगे सिधावो ।। ३ ।। कोई सतवादी हरिश्चन्द्र बताओ ।।

—०—

(रंगत झेला में)

अजी राजा मैं तो आई आपके पास प्यासी दर्शन की ।। टेक ।। तुम्हारा तीन लोक में मान मरजी परसन की । म्हारे उमग्यो नैत दयोब बद लिया वरसन की ।। १ ।। दरवाजे आ कबकी खडी हू सुनो जी हमारी बात। क्यो माया में लिपट रया हो भूलो ना हात की हात । पुगी बजा सब मत्र सुना दिया नव कुलीसु बादी गाय । कल्प राग कालो बस कीनो जा बैठो टिपारी मत्य ।। २ ।। हम राजा उनसे उठ बोल्या क्यो छोडो जी परवार । पदमनागनी पल पल रोवे चल्या गया बादी गिरलार ।। ३ ।। राजा मैं तो आई आपके पास ।।

(बोल पदमनागिन को)

—०—

(रंगत इकेरी)

अजो वोले पदम नागनी वादी गिर वासक मेरो ले गयो। देव लोक पाताल में सो राजा सत्य वखाने भोत । जा कारण हम आविया सो कई दिकू जल रही जोत ।। १ ।। अजी वोले० ।।

(बोल राजा हरिचद)

—०—

(रंगत इकेरी)

अरे म्हारा महल अगाडी सुन्दर कौन उबी छूरी वाद के ।। टेक ।। वोल वोल

सुन्दर कुछ वोलो वोल्या से सव होय। विना किये दूसरे के दिल की क्या जानेगा कोय। अरे म्हारा महल ० ॥

(वोल नागनी को)

—०—

जोडी मिल विछडा पडया सो राजा तुम्ही मिलावन हार। उठ राजा क्यो देर लगाई नवकुलीमची हलकार ॥ अजी वोल ॥

(वोल राजा को)

—०—

वडो वोल इन्द्र को छाजे मैं हू धूल समान। भर निन्द्रा में चमक उठांहा दुख सुख सुन ला कान ॥

(वोल नागनी को)

—०—

हात जोड अरजी करू सो राजा झठ जा नाग छुडाय। इतनो पुण्य पल्ल तम वादी म्हाने चूदड ओडाव ॥ २ ॥

(वोल राजा को)

—०—

धन मागो तो धन हम देवा तन मागो तो तैयार। देश छोड परदेश फिरागा सत्य कहू ललकार ॥ अरे म्हारा महल अगाडी ॥ ३ ॥

(वोल नागनी को)

—०—

ठन्डी छायें कदम के नीचे पियु सूता था सुख सेज। वादी गिर वाशक कु लै गयो छिप गयो सूरज तेज ॥ ४ ॥

(वोल राजा को)

—०—

शेष नाग पाताल को सो जा को कन्या सर को रूप। सच कह दो आये हो कहा से हम सतवादी पूत ॥ ५ ॥

माच की प्रमुख धुन

बोल पियुजी हमारा छैला
पियुजी गयारे परदेस
अरे जाजम का तो बिछावा जी

स्वर-तालिका

नि नि नि नि नि सा सा सा रे सा नी सां सा
पि यु ऽ जी ऽ ह मा ऽ रा छै ऽ ला ऽ

ध नी ध ऽ प म ग म ग रे सा ग म ग म
पि यु ऽ ऽ जी ह मा ऽ ऽ रा ऽ पि यु जी ग

रे रे रे रे ग रे ग म प प प प
याऽ ऽ रेऽ ऽ प र दे ऽ ऽ स

सा ग रे सा रे सा नी ध नी ध प ध प
अ रे ऽ जा ऽ ऽ ज म ऽ ऽ का ऽ ऽ

प ध म प म ग ग म ग रे सा रे
ऽ ऽ जी ऽ ऽ बि छा वा ऽ ऽ ऽ ऽ

सा सा सा सा
जा ऽ ऽ ऽ

५. बालमुकुन्द गुरु और कालूराम उस्ताद की वंश-तालिका

(१)
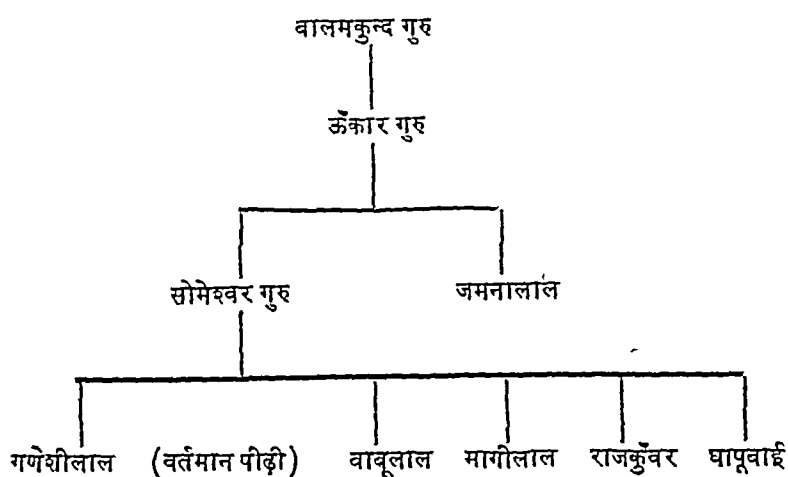
(२)
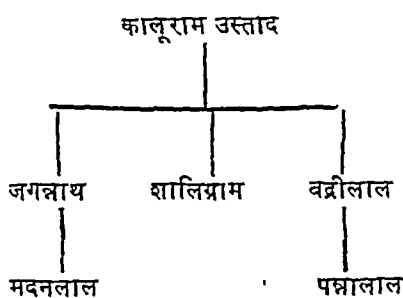
घर तेरे माखन घर तेरे महिडो,
घर तेरे घिरत घणेरो, मेरा लाल ।
ऐसो रे पितलायो माखन,
क्यूँ खायो, हरे राम ।।
घर तेरे राधा घर तेरे रुकमण,
घर तेरे सीता सी नार, मेरा लाल ।
ऐसी रे मसतानी गूजरी,
क्यूँ छेडी हरे राम ।।

(कृष्ण)

विन्दरावन की कुज गलिन में,
बैठ्यो धेनु चरावूँ, मोरा माय ।
बैठी ए गायाँ के ठोकर,
क्यूँ मारी, हरे राम ।।

(कवि वचन)

चंन्द्रसखी भज बाल कृष्ण छबि,
हरख निरख गुण गावूँ मेरा राम ।
झूठी ए गुजरडी ल्याई,
ओलमा, हरे राम ।।

७. प्रकाशित ख्याल

श्री अगरचद नाहटा द्वारा प्रस्तुत सूची (लोककला, भाग १, अक दो, सन् १९५४ से उद्धृत)

(क) अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर मे सग्रहीत :-

१. अमरसिंघजी को वडो ख्याल, मोतीलाल, गगाराम प्रतापजी लखारा, जालना। २ अमरसिंघ हाडी रानी को ख्याल, उजीर तेली, वैंकटेश्वर प्रेस, ववई । ३ कत्थे चूने का ख्याल, गणेश वैद्य, लाला वशीधर दूडानी, आगरा । ४ केसर गुलाव का ख्याल, पसारीलाल नदराम, ईश्वरलाल वुकसेलर, जयपुर । ५ (राजा) केसरसिंह का ख्याल (फूलादे केसरसिंह को ख्याल) आदर्श हिन्दू पुस्तकालय, मथुरा । ६ राजा केसरसिंह का ख्याल, प० वशीधर शर्मा, किशनगढ । ७ खीमजी आभलदे का वडा ख्याल, सदासुख भगवानदास नीमच निवासी, जमुना प्रिंटिंग वर्क्स, मथुरा । ८ खीमजी आभलदे का ख्याल, श्याम काशी प्रेस, मथुरा । ९ खीमजी आभलदे का ख्याल, नानूलाल वशीधर शर्मा, किशनगढ । १०, खीवें आभल को ख्याल, ज्ञानसागर प्रेस, ववई । ११ गोपीचद का ख्याल, मोतीलाल, (शाके १७९२) हरिलक्षमण महापुसकर, ववई । १२ गोपीचद राजा का ख्याल, आदर्श हिन्दू पुस्तकालय, मथुरा । १३ गोपीचद राजा का ख्याल, हिन्दी पुस्तकालय मथुरा । १४ चकवैं वैंण राजा को ख्याल, नानूराम राणा, ज्ञानसागर प्रेस ववई। १५ चदमलियागिर को ख्याल, कवि लच्छीराम कुचामणी, आदर्श हिन्दू पुस्तकालय, मथुरा । १६ छैला पनिहारी का ख्याल, ईश्वरलाल वुकसेलर, जयपुर । १७ जगदेव ककाली को ख्याल, नानूराम चिडावें वाला, ज्ञानसागर प्रेस, ववई । १८ जगदेश ककाली को ख्याल, नानुराम चिडावें वाला, सतुरामजी सुन्दरमल, ववई। १९ जगदेश ककाली को ख्याल, नानूराम चिडावें वाला, श्याम काशी प्रेस, मथुरा । १९ भर्तृहरी का ख्याल, तेज कवि वौरा किसनलाल, जैंसलमैंर । २० जोगी भर्तृहरी का ख्याल, तेज कवि, वौरा किसनलाल, जैंसलमेर २१ जोगी भर्तृहरी का ख्याल, तेज कवि, किशोरीलाल तखतमल, जैंसलमेर । २२ डूगरसिंह का ख्याल ईश्वरलाल वुकसेलर, जयपुर। २३ ढोलामरुवन का ख्याल, सरनूला, हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा । २४ दो गोरी का वालमा ख्याल, पसारीलाल नदराम, नीमच, हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा । २५ ध्रुवजी को ख्याल, डालूराम ज्ञानसागर प्रेस, मुवई। २६ नणद भोजाई का ख्याल, नाथू, ईश्वरलाल वुकसेलर, जयपुर । २७. नलराजा को ख्याल, नानूलाल राणो, ईश्वरलाल वुकसेलर, जयपुर । २८ नागजी मारवाडी ख्याल, ईश्वरलाल वुकसेलर, जयपुर । ३० रानी निहालदे और कुवर सुलतान का ख्याल, प० किशनलाल, वावू रामचद, नीमच । ३१. रानी निहालदे और कुवर सुलतान का ख्याल, प० किशनलाल, ईश्वरलाल वुकसेलर, जयपुर । ३२ खशम को खेल, तेज कवि, चन्तामणदाम जदाणी, जैंसलमेर । ३३ पचफूला रानी का ख्याल या ख्याल आमा डावी को, भगवानदाम, हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा । ३४ पन्ना वीरमदे को ख्याल, पसारीलाल नदराम नीमच, ईश्वरलाल

३४ विनजारे का ख्याल। ३५ बूढे बालम का ख्याल । ३६ मालदे हाडी रानी का ख्याल । ३७ मिरजा मोहनी का ख्याल । ३८ रतनसिंह चदावल का ख्याल । ३९ राजा चरित्र अर्थात वीकालाडी का ख्याल। ४० राजा चित्र मुकुट का ख्याल । ४१ राजा नल का ख्याल । ४२ राजा रिसालू का ख्याल । ४३ राजा रिसालू नोपदे का ख्याल । ४४ रूप वसत का ख्याल ।

(ड) जयदेशव सुन्दरमल, प्राचीन पुस्तकालय, गोपालवाडी बबई द्वारा प्रकाशित (हमारे सग्रह के अतिरिक्त) --

१ अमरसिंह हाडी राणी को ख्याल । २ इद्र कुवर को ख्याल । ३ इद्र-सभा को ख्याल । ४ कलकत्ते की रवानगी को ख्याल । ५ कबाठ राजा को ख्याल। ६ खीवे आभल को ख्याल । ७ गोपीचद को ख्याल । ८ गोपीचद राजा को ख्याल । ९ चकवैवीण राजा फो ख्याल। १० चन्दकवर सेठाणी को ख्याल । ११ छोटा कथ को ख्याल। १२ डोगजी जुवारजी को ख्याल। १३ ढोला मरवण को ख्याल । १४ दयाराम धाडवी को ख्याल। १५ दुले धाडवी को ख्याल । १६ बिणजारे को ख्याल । १७. बेनजीर साजादी को ख्याल । १८ मोरधज राजा को ख्याल । १९ राझा हीरू का ख्याल । २० लैला मजनू का ख्याल । २१ वीरमसिंग नौटकी का ख्याल । २२ विक्रम परवीण परी का ख्याल । २३ सुलतान बादशाह का ख्याल। २४ सौदागर वजीरजादी का ख्याल । २५ हरिचद राजा का ख्याल ।

(च) पं० पूनमचद सिखवाल लिखित ख्यालो की सूची —

१ अमलदार को ख्याल । २ आनदी गणपति को ख्याल । ३ उद्धव गोपी को ख्याल । ४ कुदनमल को ख्याल । ५ खटपटिया को ख्याल । ६ गेंदयाल गज-रादे को ख्याल । ७ छोटा वालम को ख्याल । ८ तारासिंह आसावरी को ख्याल । ९ नल दमयती को ख्याल । १० नशावाज को ख्याल । ११ पूरनमल भक्त को ख्याल । १२ पजाबी हकीम को ख्याल। १३ भक्त सुदामा को ख्याल । १४ भवर चमेली को ख्याल । १५ मदनमालती चदप ी को ख्याल । १६ पज कवर को ख्याल । १७ राव्रिसालू नोपदे को ख्याल । १८ रिसालू केलादे को ख्याल । १९ रिसालू रसवती को ख्याल । २० रूकमणी मगल को ख्याल। २१ रूपरतन रसफूला को ख्याल । २२ लकादहन सीताहरण को ख्याल । २३ विक्रमादित्य चद्रकला को ख्याल । २४ सेंवरा माजलदे को ख्याल। २५ हरिश्चन्द्र तारादे को ख्याल ।

(छ) वालकृष्ण लक्ष्मण पाठक ववई द्वारा प्रकाशित सूची —

१ अमरसिंह को ख्याल। २ अमरसिंह हाडीराणी को ख्याल । ३ खिवा आभल को ख्याल । ४ गोपीचद (मो० कृ०) को ख्याल । ५ गोपीचद (प्रह्लाद कृ०) को ख्याल । ६ चितारा चितरगी को ख्याल । ७ छोटा कथ को ख्याल । ८ जगदेव ककाली को ख्याल । ९ जुहरी को ख्याल । १० डूगजी जवारजी को ख्याल ११ ढोलामरवण को ख्याल । १२ ढोला सुलतान न्यालदे को ख्याल । १३ दयाराम धाडवी को ख्याल । १४ नल राजा को ख्याल । १५ नगोरी छैला । १६ पन्ना वीरमदे को ख्याल । १७. पाक महोवत (लैलामजनू) को ख्याल । १८ पूरण भक्त को ख्यान । १९ पृथ्वीराज को ख्याल । २० फूलकवर फूलवती को ख्याल ।

२१ फूलादे केमरसिंह को ख्याल। २२ विणजारा को ख्याल। २३ वेण वादस्याही को ख्याल । २४ भरतरी को ख्याल । २५ मालदे हाडीरानी को ख्याल । २६ मोरध्वज को ख्याल। २७ राजा चकवे वेण को ख्याल । २८ रिसालू नोपदे को ख्याल । २९ विक्रम शशिकला को ख्याल । ३० सुलतान मरवण को ख्याल । ३१ सुलोचना को ख्याल । ३२ सोने लोहे के झगडे को ख्याल । ३३ सौदागर वजीरजादी को ख्याल । ३४ हरिश्चद्र तारामती को ख्याल । ३५ हीर राझा को ख्याल ।

(ज) हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा द्वारा प्रकाशित —

१ ख्याल राजा गोपीचद, । २ ख्याल राजा रिसालू । ३ ख्याल दोहापाली-सग्रह । ४ ख्याल डूगरसिंह । ५ ख्याल दसमासिया । ६ ख्याल अमरसिंह । ७ ख्याल मारवाडी गीत । ८ ख्याल मोरध्वज ।

(झ) लाला वंशीधर दूदानी, ववई मशीन प्रेस, सेव का वाजार, आगरा द्वारा प्रकाशित —

१ नणद भौजाई का ख्याल । २ देवर भौजाई का ख्याल । ३ दौरानी जेठानी का ख्याल । ४ बुढापे का ब्याह का ख्याल । ५ सास वहू का ख्याल । हीर राझा का ख्याल ।

(ञ) ईश्वरलाल वुक्सेलर, त्रिपोलिया वाजार, जयपुर, द्वारा प्रकाशित (हमारे संग्रह के अतिरिक्त)—

१ ख्याल देवर भौजाई । २ ख्याल पचफूला आसाडावी । ३ ख्याल डूगरसिंह जवाहरसिंह । ४ ख्याल सुन्दर नगीना । ५ ख्याल दो गोरी वालमा । ६ ख्याल दौरानी जिठानी । ७ ख्याल सास वहू का । ८ ख्याल केमरसिंह का । ९ ख्याल हीर राझा का । १० ख्याल सूरजकुवर वडा । ११ ख्याल निहालदे का वडा । १२ ख्याल नागरडे का । १३ ख्याल दसमासिया । १४ ख्याल गोपीचद भरथरी । १५ ख्याल सारगा सदावृज । १६ ख्याल पूरनमल का । १७ ख्याल केसरसिंह का । १८ ख्याल मणियार का । १९ ख्याल रिसालू वेलादे का । २० ख्याल रिसालू कामदे का । २१ ख्याल काकी जेठूत का। २२ ख्याल चकवा वेण का। २३ ख्याल वीन वादस्याजादी । २४ ख्याल गोपीचद । २५ ख्याल वीरमदे का ।

(ट) हरिप्रसाद भागीरथजी, रामवाडी ववई द्वारा प्रकाशित (हमारे अतिरिक्त)—

१ रिसालू नोपदे का ख्याल । २ गोपीचद को ख्याल (मोतीलाल) । ३ अमरसिंह का ख्याल, (मोतीलाल) ४ दयाराम घाडवी का ख्याल, (प्रहलादीराम) ५ अमरसिंह हाडीरानी का ख्याल । ६ गोपीचद का ख्याल, (प्रहलादीराम) ७ हीर राझा का ख्याल । ८ सुलोचना का ख्याल । ९ भरथरी का ख्याल । १० नल राजा का ख्याल । ११ सिलोनतवती का ख्याल ।

(ठ) कन्हैयालाल एन्ड सन्स वुक्सेलर्स, (हमारे सग्रह के अतिरिक्त)—

१ ख्याल सीता सतवती । २ ख्याल अमरसिंह का । ३ ख्याल कत्था चूना का। ४ ख्याल मोरध्वज का। ५ ख्याल डूगसिंह का। ६ ख्याल सुन्दर नगीना का।

७ ख्याल आसाडावी पचफूला। ८ ख्याल निहालदे। ९ ख्याल रिसालू नोपदे। १० ख्याल हीर राझे का। ११ ख्याल छैला पनहारी का। १२ ख्याल शनीचर का।

(ड) रामलाल नोपाणी, ६७ काटन स्ट्रीट, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित (हमारे अतिरिक्त)—

१ अमलदार का ख्याल। २ इन्द्र सभा का ख्याल। ३ हीर राझा का ख्याल। ४ जगदेव ककाली का ख्याल। ५ चन्द्रप्रताप का ख्याल। ६ मालदे हाडी रानी का ख्याल। ७ हकीम गरमीवाला का ख्याल। ८ वीरमदे सोनगरी का ख्याल। ९ चदकवर फूलकवर का ख्याल। १० राजा भोज भानुमती का ख्याल। ११ पूरणमल भक्त का ख्याल। १२ ढोलो मरवण का ख्याल। १३ छोटा कथ का ख्याल। १४ जुरी खतराणी को ख्याल। १५ चकवा बैण को ख्याल। १६ स्याम कलिजा इन्दु को ख्याल। १७ साहिब तू सच्च को ख्याल। १८ सेठ मुनीम को ख्याल। १९ सहजादे को ख्याल। २० लैला मजनू को ख्याल। २१ मदनसेन चदकिरण को ख्याल।

(ढ) उपरोक्त प्रकाशको के अतिरिक्त —

बाबू दीपचद, नीमच। लोक साहित्य सदन, जयपुर। विशन बुक डिपो, मथुरा। पुस्तक मदिर, मथुरा। दूधनाथ पुस्तकालय, जगन्नाथ हुकुमचद, कत्ला, जैसलमेर। किशोरीलाल लखतमल, जैसलमेर। गगाराम प्रतापजी, लखारा, जालना। चिन्तामणिदास जदाणी, जैसलमेर। प० जगन्नाथ उपाध्याय, अजमेर। रामनायरायण त्रिवेदी, कलकत्ता। आदर्श हिन्दू पुस्तकालय, मथुरा। श्यामलाल हीरालाल, श्याम काशी प्रेस, मथुरा। जमना प्रिन्टिग वर्क्स, मथुरा इत्यादि-इत्यादि कई प्रकाशक है।

८. दिल्ली की रासलीला के संचालकों की परम्परा

सकती है । एक तो कुछ घूमने-फिरने वाली नाटक मडलियो की स्थापना सरकारी खर्च से ही करे । ये मडलिया देहातो में घूम–घूम कर अच्छे नाटको का प्रदर्शन करें, रगमच इनका भी सीधा-सादा हो, नाटको का रूप भी लोक परम्परा का अनुगामी हो । जहा जहा ये मडलिया जायेंगी, एक नवीन रगमच का नमूना देहाती जनता के सामने पेश कर दें गी । उनके अनुकरण में न सिर्फ व्यावसायिक मडलिया उसी ढग के नाटक खेलने लगेंगी, बल्कि देहातो में स्थायी रगमचो की भी स्थापना होने लगेगी । इन मडलियो की साल भर में एक वार ट्रेनिंग का भी प्रबन्ध होना चाहिये । दूसरी बात जो सरकार के द्वारा की जा सकती हैं वह लोक रगमंच के महोत्सवों का आयोजन । ऐसे महोत्सव अलग-अलग इलाको में हो तो अच्छा है । उत्सवो, प्रतियोगिता और पुरस्कार का आयोजन होना चाहिये । बिहार सरकार ने मोद मडलियो[1] के नाम से घूमने-फिरने वाली नाटक मडलियो का सगठन किया है, और वर्ष में एक बार प्रादेशिक गमच महोत्सव को भी चालू किया है ।

पिछले पच्चीस वर्षों में लोक-नृत्य और लोक-सगीत की ओर सस्कृति प्रेमी व्यक्तियों का ध्यान गया है और नगरो में उनका प्रचार भी बहुत कुछ हुआ है । किन्तु लोक-रगमच जैसी चीज की स्थापना करने की कोई योजना हमारी नजर में नही आई । लोककला को नगर और सभ्य कही जाने वाली जनता के सामने रख देना एक वात है और जन जीवन के बीच में उन्ही के मनोरजन और उन्ही की सम्पूर्ण अभिव्यजना का आयोजन करना, दूसरी बात । गाव से नगरो की ओर दौलत भी खिची, उसकी गोदी के लाल भी खिचे, उसकी धरती के गीत भी उडे । क्या यह नही हो सकता कि उन गीतो की पौध उसी धरती में जमे, फने, फूले और लोक-जीवन को आनद रस से सराबोर करे ?

१ मध्यप्रदेश के समाज सेवा विभाग ने भी 'कलापथक' नाम से हर जिले में ऐसी मण्डलियां वनायी हैं ।

१०. नौटंकी संबंधी लोककथा

डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश ने नौटकी के विषय में कुछ जान योग्य बातें प्राप्त की हैं। आपका कथन है कि नौटकी एक प्रेम-कथा है[1]। आधार रूप में पजाव की एक लोक कथा इस प्रकार है —

"नौटकी नाम की एक राजकुमारी थी, जो वैसी ही प्रसिद्ध थी, जैसी सिंहल द्वीप की पद्मिनी। हुआ यह कि एक वार शिकार से लौटकर फूलसिंह नामक युवक ने अपनी भाभी से पीने का ठण्डा पानी, नहाने को पानी, खाने को दाल-चावल और हुक्का भर कर तैयार करने को कहा। भाभी को देवर के कहने का ढग अच्छा न लगा और उसने कह दिया कि कौन नौटकी व्याह कर ले आये हो, जो ऐसा हुक्म चलाते हो। मैं तुम्हारी तनखा नही पाती कि हुक्म वजाने के लिये खडी रहू। भाभी के ये वचन युवक को तीर की तरह लगे और उसने प्रतिज्ञा की कि नौटकी व्याह कर ही घर लौटूगा। घर से चला तो भाभी को भूल मालूम हुई। उसने पश्चात्ताप किया और क्षमा मागी। नौटकी के लाने की कठिनाइयो का उल्लेख किया पर फूलसिंह दृढप्रतिज्ञ रहा। इसके वाद तो भाई, माता, पिता, मित्र आदि सबने समझाया, पर नौटकी का दीवाना फूलसिंह रोके न रुका। दो खुजरियो में मोहरें भर कर वह घोडे पर चढ कर चल दिया और नौटकी के वाग में जा पहुचा। मालिन को रिश्वत देकर उसने वाग में स्थान पाया और मालिन के वदले स्वय राजकुमारी नौटकी के लिये माला गूंथी, जिस में जवाहरात जड दिये। मालिन उस हार को देर से लेकर गई तो नौटकी क्रोध से आग-वबूला हो गई। मालिन से वहुत पूछने पर उसने भेद नही वताया और अपने लडके की वहू को उस हार के गूथने का श्रेय दिया। नौटकी ने हुक्म दिया कि वहू को सामने लाया जाये। मालिन के होश उड गये। वाग में लौटकर उसने फूलसिंह से सव हाल कहा। अन्तमें फूलसिंह स्त्री वनकर महल में गया। स्त्री रूप में फूलसिंह नौटकी से कम सुन्दर न था। नौटकी ने उसे सहेली वनाकर एक ही सेज पर सोने का अधिकारी वना दिया। फूलो से सेज सजाई गई। दोनो एक साथ सोये। वातचीत के दौरान में फूलसिंह ने नौटकी से कुमारी रहने का कारण पूछा तो उसने अपने योग्य वर न मिलने की युक्ति दी और इच्छा प्रकट की कि यदि हम दोनो में कोई मर्द हो जाये तो क्या ही आनन्द की वात हो। इस पर फूलसिंह ने इष्टदेव को मनाकर यह वरदान मागने को कहा कि हम में से कोई मर्द हो जाय। नौटकी ने वैसा ही किया और फूलसिंह मर्द के रूप में प्रस्तुत हो गया। नौटकी को जव चाल मालूम हुई तव वह घवराई पर अव क्या हो सकता था। खवर राजा तक गई। फूलसिंह गिरफ्तार कर लिया गया और फांसी के तख्ते पर चढाया गया। नौटकी प्रेमीके लिये मर्दाना वेश रखकर वध-स्थल पर आगई। जैसे ही जल्लादो को राजा ने कत्ल का हुक्म दिया, नौटकी मर्दाना वेश उतारकर अप अपनी

सकती है । एक तो कुछ घूमने-फिरने वाली नाटक मडलियों की स्थापना सरकारी खर्च से ही करे । ये मडलिया देहातों में घूम–घूम कर अच्छे नाटको का प्रदर्शन करें, रगमच इनका भी सीधा-सादा हो, नाटको का रूप भी लोक परम्परा का अनुगामी हो । जहा जहा ये मडलिया जायेंगी, एक नवीन रगमच का नमूना देहाती जनता के सामने पेश कर दें गी । उनके अनुकरण में न सिर्फ व्यावसायिक मंडलिया उसी ढंग के नाटक खेलने लगेंगी, बल्कि देहातो में स्थायी रगमचो की भी स्थापना होने लगेगी । इन मडलियों की साल भर में एक बार ट्रेनिंग का भी प्रबन्ध होना चाहिये । दूसरी बात जो सरकार के द्वारा की जा सकती है वह लोक रगमंच के महोत्सवों का आयोजन । ऐसे महोत्सव अलग-अलग इलाको में हों तो अच्छा है । उत्सवों, प्रतियोगिता और पुरस्कार का आयोजन होना चाहिये । बिहार सरकार ने मोद मडलियों[1] के नाम से घूमने-फिरने वाली नाटक मडलियों का सगठन किया है, और वर्ष में एक बार प्रादेशिक गमंच महोत्सव को भी चालू किया है ।

पिछले पच्चीस वर्षों में लोक-नृत्य और लोक-सगीत की ओर संस्कृति प्रेमी व्यक्तियो का ध्यान गया है और नगरों में उनका प्रचार भी बहुत कुछ हुआ है । किन्तु लोकरगमच जैसी चीज की स्थापना करने की कोई योजना हमारी नजर में नही आई । लोककला को नगर और सभ्य कही जाने वाली जनता के सामने रख देना एक बात है और जन जीवन के बीच में उन्ही के मनोरजन और उन्ही की सम्पूर्ण अभिव्यजना का आयोजन करना, दूसरी बात । गाव से नगरों की ओर दौलत भी खिची, उसकी गोदी के लाल भी खिचे, उसकी धरती के गीत भी उडे । क्या यह नही हो सकता कि उन गीतो की पौध उसी धरती में जमे, फले, फूले और लोक-जीवन को आनद रस से सराबोर करे ?
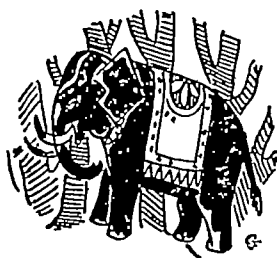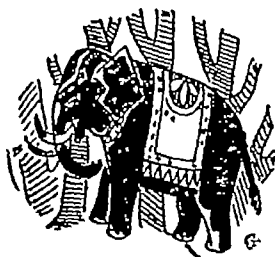
१ मध्यप्रदेश के समाज सेवा विभाग ने भी 'कलापथक' नाम से हर जिले में ऐसी मण्डलियाँ बनायी हैं ।

१०. नौटंकी संबंधी लोककथा

डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश ने नौटकी के विषय में कुछ जान योग्य बातें प्राप्त की हैं। आपका कथन है कि नौटंकी एक प्रेम-कथा है। आधार रूप में पंजाब की एक लोक कथा इस प्रकार है —

"नौटकी नाम की एक राजकुमारी थी, जो वैसी ही प्रसिद्ध थी, जैसी सिहल द्वीप की पद्मिनी। हुआ यह कि एक बार शिकार से लौटकर फूलसिंह नामक युवक ने अपनी भाभी से पीने का ठण्डा पानी, नहाने को पानी, खाने को दाल-चावल और हुक्का भर कर तैयार करने को कहा। भाभी को देवर के कहने का ढग अच्छा न लगा और उसने कह दिया कि कौन नौटकी व्याह कर ले आये हो, जो ऐसा हुक्म चलाते हो। मैं तुम्हारी तनखा नही पाती कि हुक्म बजाने के लिये खडी रहूँ। भाभी के ये वचन युवक को तीर की तरह लगे और उसने प्रतिज्ञा की कि नौटकी व्याह कर ही घर लौटूगा। घर से चला तो भाभी को भूल मालूम हुई। उसने पश्चात्ताप किया और क्षमा मागी। नौटकी के लाने की कठिनाइयो का उल्लेख किया पर फूलसिंह दृढप्रतिज्ञ रहा। इसके बाद तो भाई, माता, पिता, मित्र आदि सबने समझाया, पर नौटकी का दीवाना फूलसिंह रोके न रुका। दो खुजरियो में मोहरें भर कर वह घोडे पर चढ कर चल दिया और नौटकी के बाग में जा पहुचा। मालिन को रिश्वत देकर उसने बाग में स्थान पाया और मालिन के बदले स्वय राजकुमारी नौटकी के लिये माला गूंथी, जिस में जवाहरात जड दिये। मालिन उस हार को देर से लेकर गई तो नौटकी क्रोध मे आग-बबूला हो गई। मालिन से बहुत पूछने पर उसने भेद नहीं बताया और अपने लडके की बहू को उस हार के गूथने का श्रेय दिया। नौटकी ने हुक्म दिया कि बहू को सामने लाया जाये। मालिन के होश उड गये। बाग में लौटकर उसने फूलसिंह से सब हाल कहा। अन्तमें फूलसिंह स्त्री बनकर महल में गया। स्त्री रूप में फूलसिंह नौटकी से कम सुन्दर न था। नौटकी ने उसे सहेली बनाकर एक ही सेज पर सोने का अधिकारी बना दिया। फूलो से सेज सजाई गई। दोनो एक साथ सोये। बातचीत के दौरान में फूलसिंह ने नौटकी से कुमारी रहने का कारण पूछा तो उसने अपने योग्य वर न मिलने की युक्ति दी और इच्छा प्रकट की कि यदि हम दोनों में कोई मर्द हो जाये तो क्या ही आनन्द की बात हो। इस पर फूलसिंह ने इष्टदेव को मनाकर यह वरदान मागने को कहा कि हम में से कोई मर्द हो जाय। नौटकी ने वैसा ही किया और फूलसिंह मर्द के रूप में प्रस्तुत हो गया। नौटकी को जब चाल मालूम हुई तब वह घबराई पर अब क्या हो सकता था। खबर राजा तक गई। फूलसिंह गिरफ्तार कर लिया गया और फाँसी के तख्ते पर चढाया गया। नौटकी प्रेमीके लिये मर्दाना वेश रखकर वध-स्थल पर आगई। जैसे ही जल्लादो को राजा ने कत्ल का हुक्म दिया, नौटकी मर्दाना वेश उतारकर अपने असली

रूप में आगई । उसने जल्लादो को धक्का देकर नीचे गिरा दिया और नगी तलवार लिये पिता के सामने जाकर कहने लगी कि या तो इसे क्षमा कीजिये या स्वय मरने को उद्यत हो जाइये । राजा को बेटी की बात माननी पडी । पडित बुलाकर दोनों की शादी कर दी गई । फूलसिंह नौटकी को लेकर घर आया ।"

ब्रज में नत्थाराम शर्मा गौड की लिखी हुई "सगीत नौटकी शहजादी उर्फ अठ्यारा औरत" को नौटकीबाज असली नौटकी मानते हैं । प्रेम का जो रूप उक्त लोककथा में उपलब्ध है उसका स्वरूप बहुत कुछ प्रेमाख्यानकों-सा है ।